

अध्याय-4

आर्थिक जीवन में दासों की भूमिका

दासों के कार्यों का निरूपण करते समय ऐसा प्रतीत हुआ कि दासों का नियोजन घरेलू, इतर-घरेलू, कृषि तथा अन्य उत्पादन कार्यों में किया जाता था। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भारतीय इतिहास की आर्थिक संरचना में उनकी क्या भूमिका होती थी।

प्रस्तुत अध्याय में इसी आभास का आर्थिक जीवन के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में परीक्षण किया जायेगा। चूँकि हमारे स्रोतों में उपलब्ध उत्पादन के सन्दर्भों में केवल दासों का ही उल्लेख नहीं आता अपितु इनके साथ कर्मकर, दण्ड प्रकृति, भूतक, प्रेष्य जैसे कितने ही अन्य सेवि वर्ग के लोगों के उल्लेख आते हैं, इसीलिए यह भी तय करना होगा कि दासों का सेवि वर्ग के साथ क्या सम्बन्ध था।

कतिपय इतिहासकारों की दृष्टि में भारत में उत्पादन पद्धति का विकास उस समय एक निर्णायक मोड़ पर पहुँचा जब लोगों को लोहे का ज्ञान हुआ और उसका उपयोग बड़े पैमाने पर खेतिहर कार्यों में होन लगा। इसमें उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।¹ फिर भूमि सामुदायिक स्वामित्व से बाहर निकलकर राज्य के नियंत्रण में बड़े-बड़े भूखण्डों में बंटी। तत्पश्चात् व्यक्तिगत भूस्वामित्व का युग आया। जब भूमि पर सामूहिक अधिकार था तो लोग

अतिरिक्त उत्पादन नहीं कर पाते थे। लेकिन बाद में संसाधनों की उपलब्धता के कारण अतिरिक्त उत्पादन सम्भव हो गया जिसमें सक्षम औजारों के साथ-साथ बड़े-बड़े भूखण्डों पर दास श्रम का उपयोग कृषि कार्यों में किया जाने लगा।² ऐसे इतिहासकारों की दृष्टि में यह स्थिति का चरमोत्कर्ष मौर्य काल में दिखायी पड़ता है जिस समय राजकीय नियंत्रण में कृषि करायी जाती थी।³ सम्राट अपने भू-भागों पर स्वतन्त्र रूप से राज्य करने वाले अधीनस्थ शासकों पर भी कर आरोपित करता था। कृषकों से कर वसूली कौटिलीय अर्थशास्त्र का एक सामान्य नियम था जिसकी गैर अदायगी पर उनसे भूमि छीन लेने की बात भी कौटिल्य करता है।⁴ इन इतिहासकारों की दृष्टि में ऐसे कृषकों में शूद्र दासों की अधिकतम आबादी हुआ करती थी।⁵ इस प्रकार मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था दासता मूलक अर्थव्यवस्था की परिचायक थी।⁶ ऐसे दासों की सम्पत्ति के रूप में रखते हुए राज्य प्रत्येक तरह से उनके श्रम का संदोहन करता था और उसके बदले में उन्हें केवल प्राणों की रक्षा हेतु सिर्फ भोजन उपलब्ध कराता था। इस प्रकार इन इतिहासकारों ने पहली बार दो वर्गों के अस्तित्व की बात की एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। पहला राज्य के प्रतिनिधि के रूप में दूसरे वर्ग का प्रत्येक दृष्टि से शोषण करता था। यह शोषित वर्ग कृषि एवं उत्पादन से जुड़ा हुआ दास वर्ग ही था जो अधिकांशतः शूद्र वर्ग से ही निर्मित होता था।

दासतामूलक अर्थव्यवस्था के विघटन के बाद सिद्धान्ततः सामन्ती समाज का उदय होता है जिसकी विशेषता दासों के बजाय अर्धदासों अथवा कृषिदासों का उत्पादन कार्यों में नियोजन⁷ होती है। उपर्युक्त अवधारणा के पक्षपोषक इतिहासकारों का मानना है कि अर्थव्यवस्था का यही विकासक्रम भारत में भी रहा। यहाँ पर यह विचारणीय है कि ऐतिहासिक भौतिकतावाद के इस सिद्धान्त के जनक कार्ल मार्क्स ने अर्थव्यवस्था के विकास की इन अवस्थाओं की स्थापना पाश्चात्य सभ्यता के विशिष्ट सन्दर्भ में की थी। भारतीय सभ्यता के लिए उसने 'एशियाई उत्पादन पद्धति' की एक पृथक अवधारणा ही बनायी थी जो उसके विचार में ऐतिहासिक विकास की मुख्य धारा की एक अपवाद थी। इसलिए मार्क्स ने इन समाजों की इतिहास की प्रमुख धारा का अपवाद मानकर अलग कर दिया और इसे प्रगतिहीन समाज की कोटि में रख दिया।⁸

विवेचित काल के उत्पादन प्रक्रिया में सेविवर्गों और उसमें अन्तर्निहित दासों की भूमिका को रेखांकित करने के लिए यह आवश्यक है कि प्राचीन काल से लेकर पूर्वमध्यकाल के बीच परम्परागत भारतीय सामाजिक संरचना का सूक्ष्मावलोकन किया जाय क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन कार्यों की भी भूमिका कोई न कोई व्यवस्था रही होगी। इसके लिए प्राचीन भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को समझना पड़ेगा। भारतीय सामाजिक स्तरीकरण का वास्तविक बोध तभी हो सकता है जबकि भारतीय समाज के स्तरीकरण से सम्बन्धित वर्ण व्यवस्था की स्थिति का आकलन प्रस्तुत किया

जाय। वस्तुतः भारत में चतुर्वर्ण का दृष्टांत सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में आता है तथापि पहली बार उत्तरवैदिककाल में लोगों को सिद्धान्ततः 4 वर्णों में विभक्त करके⁹ वर्ण व्यवस्था का एक ऐसा ढांचा खड़ा किया गया जिसमें न केवल उनकी पहचान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया अपितु उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों को भी व्यवस्था कर दी गई।¹⁰ वर्ण व्यवस्था की इस परम्परागत योजना में ब्राह्मण को आदि पुरुष के मुँह से उत्पन्न बताकर समस्त पवित्र व धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने अथवा कराने का अधिकार प्रदान कर दिया गया जिससे यह अपेक्षा की गयी कि वह पठन-पाठन योजना तथा दान-प्रतिग्रह के केवल छः कर्तव्यों का ही निर्वहन करते हुए समाज को सही दिशा में ले जायेगा क्षत्रियों से यह उम्मीद की गई कि चूँकि उनकी उत्पत्ति विराट पुरुष की भुजाओं से हुयी है और भुजाओं का कार्य रक्षा करना है, अतएव वह रक्षा कार्य का उत्तरदायित्व निभाते हुए राजकीय एवं प्रशासनिक गतिविधियों को सम्पन्न करेगा। इसी क्रम स्तरोनुक्रम के हिसाब से तीसरा स्थान वैश्यों को प्राप्त हुआ जिनकी उत्पत्ति जंघाओं से बताई गई। जाँघ शरीर का स्तम्भ होने के कारण तथा वैश्यों को उससे उत्पत्ति के कारण सामाजिक स्तम्भ की पर्याय बन गयी और इस उत्पादन प्रक्रिया को गति प्रदान करने का कार्य वैश्यों के ऊपर छोड़ दिया गया। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, उद्योग धन्धों, जो अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंग थे, की जिम्मेदारी वैश्यों पर डाल दी गई। अब समाज का चौथा वर्ण शूद्र बचा जिसकी उत्पत्ति पैरों से बतायी गयी थी।

निश्चित रूप से अब धर्म राज्य एवं अर्थव्यवस्था तीनों का बंटवारा हो चुका तो चौथे वर्ण का कोई कार्यगत औचित्य नहीं रहा। अतएव इसे तीनों वर्णों की सेवा का कार्य सौंप दिया गया।¹¹ इस प्रकार भारत का प्राचीन सामाजिक ढांचा खड़ा कर दिया गया। यह परम्परागत ढांचा सैद्धान्ति एवं व्यावहारिक धरातल पर कितना खरा उतरा अप्रासंगिक न होगा कि कोई भी समाज ज्यामितीय सिद्धान्तों के आधार पर नहीं चल सकता क्योंकि उसकी सर्जना ज्यामितीय ढंग से हो ही नहीं सकती। इसलिए इनका सिद्धान्त और व्यवहार अलग-अलग रहा होगा।

वर्ण व्यवस्था की यह जो परम्परागत योजना प्रचारित एवं प्रसारित की गई इसमें सेवा कार्य से जुड़े हुए शूद्रों एवं उत्पादन कार्य से जुड़े हुए वैश्यों की प्रमुख भूमिका थी। एक श्रम करता था और दूसरा आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण करके उसके आंशिक श्रम का लाभ उठाता हुआ अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करता था। अर्थात् इस उत्तरवैदिककालीन व्यवस्था में भी शूद्रों की आर्थिक गतिविधियों से व्यवहारतः अलग नहीं किया गया होगा। यद्यपि परम्परागत यही व्यवस्था थी कि शूद्र केवल ऊपर के तीन वर्णों की ही सेवा करेगा।¹² लेकिन शूद्रों से मूलतः दो प्रकार के कार्य लिए जाते थे। एक तो उनका उपयोग अनुत्पादक कार्यों में होता था जिनमें उनसे केवल द्विज सेवा करायी जाती थी और दूसरे शिल्प कार्य थे जिनमें शूद्रों का नियोजन होता था और वे उत्पादन से सीधे जुड़े हुए थे।¹³ शिल्प कार्यों में शूद्रों को नियोजित करके उन्हें वैश्यों

के साथ जोड़ा गया था। इस प्रकार शूद्र प्रारम्भ में भी उत्पादन कार्यों से जुड़े हुए थे लेकिन इस सैद्धान्तिक योजना में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को ऐसे कार्यों से पूर्णतः अलग रखा गया था।¹⁴ अधिक संभावना है कि सेवाकार्य से जुड़े हुए शूद्र वैश्यों के साथ उत्पादन कार्यों को भी सम्पन्न करते थे और वे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के यहाँ बहुत कम ही सेवा का कार्य करते रहे होंगे। क्योंकि जहाँ उत्तर वैदिक काल में स्थायी तथा मिट्टी से बंधे जीवन को स्वीकार करने के साथ-साथ आर्य लोग अपनी यायावरी प्रवृत्ति को छोड़ रहे थे और कृषि की ओर झुकाव बढ़ रहा था वहीं बढ़े हुए आर्थिक क्रिया कलापों ने निश्चित रूप से कृषि के लिए अनिवार्य विशिष्ट आवश्यकताओं पर अनुकूल जोर दिया होगा जिसके परिणामस्वरूप से विशेषज्ञतायुक्त पेशेवर कारीगरों का एक वर्ग अस्तित्व में आया होगा जिसमें शूद्रों व दासों की संख्या नगण्य न रही होगी क्योंकि इन्हें शिल्पकार्य में नियोजित करने की चर्चा की गई है। यद्यपि सामाजिक स्थिति और शुद्धता की दृष्टि से सहभागिता स्पष्ट हो जाने पर ऐसी पारम्परिक दीवार खड़ा करना असमीचीन होगा। परन्तु यह बिल्कुल सही है कि वर्ण व्यवस्था के इस उपर्युक्त सैद्धान्तिक ढांचे में शूद्रों का आंशिक योगदान ही हो सकता है। जहाँ तक दासों की उत्पादन पद्धति से जोड़ने का प्रश्न है कम से कम इस सैद्धान्तिक संरचना में दासों को उत्पादन के अंग के रूप में कही भी नहीं दिखाया गया है दासों का उत्पादन कार्यों से कोई सरोकार वर्ण व्यवस्था की परम्परागत पद्धति में नहीं दिखायी पड़ता जैसा कि वैदिक कालीन दासता

के विवरणों से स्पष्ट भी हो जाता है।¹⁵ इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में उत्पादन प्रक्रिया से ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का तो दूर दराज तक कहीं कोई सरोकार नहीं था और वैश्यों के कन्धे पर ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की जिम्मेदारी डाली गयी थी जिसमें शूद्र केवल सेवा के स्तर पर अनुत्पादक एवं उत्पादक, दोनों प्रकार के कार्यों से जुड़कर अर्थव्यवस्था के सुदृढीकरण में अपनी आंशिक भागीदारी दर्ज करते थे। इसके अतिरिक्त शिल्प कार्य भी जो उनका एकाधिकार था, अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाता रहा होगा। दासों का वर्ण जो तत्कालीन सेविवर्ग का आवश्यक अंग था, उत्पादन के कार्यों में कहीं भी जुड़ा हुआ नहीं दिखायी पड़ता। वर्ण व्यवस्था के नियामकों की दृष्टि से यह व्यवस्था प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना की रीढ़ थी। किन्तु यह परम्परागत योजना भारत के सामाजिक यथार्थ को कभी अपने में पूर्णतया समेट न सकी। सामाजिक यथार्थ के प्रति की गई तत्वों के रूप में जातियों का समायोजन अन्ततः वर्णों को जातियों का समूह बना देता है या दूसरे शब्दों में अधिसंख्यक जातियों की वर्णक्रमानुसार वर्गीकृत कर दिया जाता है। यह स्थिति गुप्तोत्तर काल में दिखायी पड़ती है जब जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था के पर्याय के रूप में उभरकर सामने आ गयी। अर्थात् प्राचीन काल के इस प्रथमार्द्ध में वर्ण व्यवस्था बरकरार रही और सिद्धान्ततः समाज के चारों वर्णों को उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अनुरूप ही चलाना था जिसमें ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को किसी भी दशा में सेवि वर्गों की कोटि में नहीं रखा जा सकता था।

वैश्यों की अर्थव्यवस्था का ठेकेदार तथा शूद्रों को सेविवर्ग का प्रमुख आधार स्तम्भ मानना इस ढांचा की विशेषता थी। जिसमें दासों को कोई स्थान नहीं था। लेकिन यह सैद्धान्तिक योजना कार्यरूप में किस सीमा तक खरी उतरी इसका भी आंकलन प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है तभी तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि सेवि वर्ग जो बाद में उत्पादन व्यवस्था का प्रमुख वाहक बन गया, केवल शूद्रों द्वारा ही निर्मित था आंकलन उसमें वर्ण या जाति का कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

वर्ण व्यवस्था के उपर्युक्त सैद्धान्तिक आदर्शों का परिपालन व्यावहारिक धरातल पर बहुत अधिक नहीं हो पाता था जिसका प्रधान कारण यह था कि ये व्यवस्थाएं एकांगी थीं। इन व्यवस्थाओं में एक वर्ण को तो सारे उच्च अधिकार प्राप्त थे और दूसरे को शोषित रहने की समस्त विवशताएं झेलनी पड़ती थीं। इसकी अव्यावहारिकता का एक पहलू और भी है। जो नियम एवं कर्तव्य उच्च वर्णों के लिए बनाए गये थे उनमें इतनी दुरुहता और रूढ़वादिता व्याप्त थी कि वह समाज के सभी ऊँचे तबके के लोगों द्वारा अनुकरणीय हो ही नहीं सकती थी। यही कारण है कि धर्मशास्त्रकारों की उनके निषेध या अतिक्रमण की अवस्था में प्रायश्चित्तों एवं दण्ड विधानों की व्यवस्था भी करनी पड़ी।¹⁶ यहीं नहीं, आपद्धर्भ के अन्तर्गत जो शिथिलताएं कम से कम उच्च वर्णों के लिए प्रदान की गईं। उनमें समाज के इन वर्णों के अधिकांश लोग खड़े दिखायी पड़ते हैं। यदि प्राचीन समाज की संक्रमणकालीन परिस्थितियों की ओर

दृष्टिपात किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी सदी के लगभग वैश्य, शूद्र श्रम पर आधारित सामाजिक संरचना गम्भीर विपत्तियों से गुजर रही थी जिसकी झलक पुराणों में अभिव्यक्त कलियुग वृतान्त में देखी जा सकती है।

शान्ति पर्व में दण्ड के महत्व पर जोर¹⁷ तथा रामायण में अराजकता का वर्णन¹⁸ सम्भवतः इसी पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ है। वर्ण संकरता कलियुग की विशेषता है। कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत में कहा गया है कि अंत्य मध्य हो जायेंगे और मध्य के सामाजिक दर्जे में गिरावट आयेगी।¹⁹ इसी प्रकार कात्यायन स्मृति²⁰ में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्षकों की चर्चा से इस बात की पुष्टि होती है कि शूद्र ही नहीं अपितु क्षत्रिय भी कृषि कार्य करने लगे थे। सम्भवतः यह परिवर्तन कौटिल्य की उस व्यवस्था को संबल प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है जिसमें उसने वैश्योचित “वार्ता” का अधिकार शूद्रों को प्रदान किया था।²¹ विष्णु पुराण शूद्रों को भाग्यशाली मानते हुए कहता है कि वैश्य कृषि व्यापार का त्याग करके मामूली कारीगरों की तरह शूद्रों के धन्धे, दासता और कारीगरी के काम शुरू करके उन्हीं की व्यवस्था के रूप में अपना लेंगे।²² यह परम्परा ब्राह्मणों के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप के रूप में तो आपस्तम्ब धर्मसूत्र²³ के काल में ही दिखायी पड़ने लगती है जहाँ पर यह वर्णित है कि वैश्वदेव बलि द्विजो की देखरेख में शूद्र भी तैयार कर सकता है। अपस्तम्बधर्म सूत्र के अनुसार वैश्वदेव का अन्न आर्यो (द्विज) द्वारा स्नान करने के उपरान्त

पकाया जाना चाहिए किन्तु आर्यों की अध्यक्षता में इसे शूद्र भी पका सकता है।²⁴

वर्ण के अनुसार कार्य सम्पादित करने अथवा न करने के उपर्युक्त उल्लेखों को देखने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाय कि वर्ण व्यवस्था जिस सीमा तक सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की पहचान बनी और व्यावहारिक धरातल पर इसका अतिक्रमण किस वर्ण द्वारा किस सीमा तक किया जाता था। आगे चलकर अनेक व्यावहारिक विवशताओं के कारण इनका अतिक्रमण ही सामान्य प्रथा प्रतीत होने लगी और यह कलियुग वृत्तान्त तथा आपद्धर्म की व्यवस्था में यह स्पष्टतया प्रतिबिम्बित भी होती है। ऐसा लगता है कि व्यावहारिक जगत में इसके सम्यक अनुपालन न हो पाने का एक मात्र कारण इसके सैद्धान्तिक ढाँचे की कठोरता थी। उदाहरण के लिए मनु के अनुसार ऐसे ब्राह्मण जो मांस बेचने²⁵, व्यापारकर्म करने²⁶, प्रेष्य²⁷, वेतनभोगी²⁸, सूदखोर²⁹, पशुपालक³⁰, चन्दा लेने वाले³¹, सोमविक्रेता³², समुद्रयात्रा करने वाले³³, तेल का व्यापार करने वाले³⁴, जुआ खिलाने वाले³⁵, गन्ने का रस बेचने वाले³⁶, धनुष-बाण बनाने वाले³⁷, धूतशाला के अध्यक्ष³⁸, हाथी-घोड़ा का युद्धाभ्यास कराने वाले³⁹, चिड़ियों का व्यापार करने वाले⁴⁰ आदि सभी अपंक्तिपावन ब्राह्मण होते हैं। इन्हें पितरों के श्राद्धभोज में नहीं बुलाया जा सकता। यदि उपर्युक्त सूची पर ध्यान दिया जाय तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उस युग का ब्राह्मण (विशेष तथा उस

युग का जो मनुवादी ब्राह्मण व्यवस्था का द्योतक है) कृषकों, वैश्यों से लेकर चाण्डालों तक के कार्य करता था और ऐसे ब्राह्मणों की संख्या अपवाद स्वरूप न रही होगी।⁴¹ अतः यदि समाज में वर्ण व्यवस्था का सुप्रतिष्ठित सैद्धान्तिक शिकंजा, मजबूत होता तो ऐसे उल्लेखों का कोई औचित्य नहीं था, अथवा ऐसे उल्लेख अपवादस्वरूप मिलते। लेकिन इसे देखकर तो ऐसा लगता है कि वर्णव्यवस्था की यह सैद्धान्तिक योजना मात्र आदर्शों की दुहाई भर दे रही थी और व्यावहारिक जगत में वर्ण अथवा जाति का कोई प्रतिबन्ध उनके व्यवसायों के सम्बन्ध में विद्यमान नहीं था।

इसी प्रकार के कतिपय दण्ड विधन भी यह स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं कि वर्णव्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में निदिष्ट अदण्डनीय ब्राह्मण को व्यावहारिक दृष्टि से दण्ड के कटघरे में खड़ा किया जा सकता है। मनु ने बताया कि ब्राह्मण चोर का अभिज्ञान हो जाने पर उसे 64 गुना था सौ गुना या 128 गुना पाप होता है, क्षत्रिय को 32 गुना, वैश्य को 16 गुना तथा शूद्र को 8 गुना पाप होता है। ये सभी इसी क्रम में दण्डनीय भी होते हैं।⁴² इस दण्ड विधान में ब्राह्मणों के लिए अधिकाधिक दण्ड की व्यवस्था स्वयं सिद्ध है। इसी प्रकार मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण यदि किसी क्षत्रिय को चोर या कटु वचन कहे तो उसे 50 पण का दण्ड भोगना पड़ेगा। यदि वैश्य को ऐसा कहे तो 25 पण तथा शूद्र को कहने पर 12 पण का दण्ड उसे भोगना पड़ेगा⁴³ यहाँ भी ब्राह्मण दण्ड से मुक्ति नहीं पा रहा है।

उन्होंने ब्राह्मण कृषकों का भी प्रमाण दिया है।⁴⁴ ब्राह्मणों के गर्भ से उत्पन्न कीनाश पुत्र की खेती करने के लिए एक बैल (या हल या बैल) सवारी (घोड़ा आदि), भूषण, घर इनमें से जो श्रेष्ठ हों, उन सब भागों में से एक भाग देने की व्यवस्था मनु ने दी है। ब्राह्मण जीविका के निर्वाह न होने की स्थिति पर वैश्यों के कार्य अपना सकता था।⁴⁵ यहीं नहीं “कृषीबल” का उल्लेख करके मनु ने ब्राह्मण कृषक के बात भी पुष्ट कर दी है।⁴⁶ मनु ब्राह्मण की क्षत्रियोचित कर्म करते हुए भी दिखाते हैं। ब्राह्मणों को शिल्पकार्य से जुड़ा हुआ दिखाकर⁴⁷ मनु ने वर्ण व्यवस्था की सारी सीमाओं को तोड़ दिया। इस प्रकार जब मनु जैसे विचारक ब्राह्मणों को उनके विहित कर्मों से अलग दिखाते हैं तो अन्य विचारकों कौटिल्य ने भी वर्णगत ढांचे के बाहर इन कृत्यों की ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न करते हुए दिखाया है।⁴⁸ पूर्व मध्यकाल के उस युग में जबकि भूमिदानों की परम्परा अपने पूरे उफान पर थी, उस युग में ब्राह्मणों की गैर ब्राह्मणों के कार्य करते हुए आसानी से देखा जा सकता है।

पूर्वमध्यकालीन भारत में यद्यपि वर्णाश्रम धर्म को पुनर्स्थापित करने के प्रयासों को चर्चा मिलती है लेकिन वे केवल सैद्धान्तिक उद्घोषणाओं से बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाये और व्यावहारिक धरातल पर उसका कोई खास असर नहीं पड़ा। यों तो वर्णाश्रम व्यवस्था की गुप्तों एवं मौखरियों के शासन काल में भी पुनर्स्थापित करने की चर्चाएं मिलती हैं⁴⁹ लेकिन वह यथार्थ जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सका।

इसी प्रकार क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की अलग-अलग स्थितियाँ दिखायी पड़ती हैं। क्षत्रियों की परम्परागत योजनानुसार केवल रक्षा कार्य सौंपा गया लेकिन उपनिषदों के काल से ही इसका अतिक्रमण मिलने लगता है। शिक्षा के क्षेत्र से लेकर कृषि एवं सेवाकार्य तक सभी क्षेत्रों में क्षत्रियों की भूमिका को प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में देखा जा सकता है। यदि उपनिषदों के युग में क्षत्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करते हुए दिखाया गया है तो कात्यायन स्मृति में⁵⁰ इन्हें कृषकों के रूप में तथा आगे चलकर भृत्यों एवं भीलों के रूप में भी चित्रित किया गया है। कृषि एवं वाणिज्य इनके सामान्य कर्मों के रूप में भी प्राप्त होते हैं। इन्दौर ताम्रलेख क्षत्रिय वणिक की चर्चा स्पष्ट रूप से करता है। युद्ध क्षेत्र में, तुर्क आक्रमणों के समय विशेष रूप से, क्षत्रियों को बन्दी बनाकर दासता में ढकेल देना पूर्व मध्यकाल की एक सामान्य घटना हो गयी थी जो वर्ण व्यवस्था के सारे सैद्धान्तिक आधारों को ध्वस्त करती हुयी प्रतीत होती है।⁵¹ इसका विशुद्ध विवरण पिछले अध्यायों में किया जा चुका है।

जहाँ तक वैश्यों एवं शूद्रों की स्थिति का प्रश्न है यहाँ कार्यों की उभयनिष्ठता दिखायी पड़ती है। वर्णगत ढांचे में यदि एक वर्ण को कृषि, पशुपालन और वाणिज्य का अधिकार प्रदान किया गया था तो दूसरे को केवल द्विजों की सेवा का कार्य सौंपा गया था लेकिन यथार्थ जीवन में दोनों ही एक दूसरे की सीमा में अन्तःप्रविष्ट प्रतीत होते हैं। पूर्व मध्यकालीन परिस्थितियाँ तो

इसकी भरपूर गवाही देती ही है। लेकिन पूर्वकाल में मनु तथा कौटिल्य भी इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। कौटिल्य ने पहली बार वैश्योचित कर्मों में शूद्रों को भागीदार बनाया और उन्हें महत्वपूर्ण वार्ता के अधिकार से संयुक्त कर दिया।⁵² यहीं नहीं, मनु भी शूद्र गुरु तथा शूद्र छात्र, शूद्र यज्ञकर्ता, शूद्र याजक तथा सुकाली शूद्र आदि की चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं। पाणिनि ने शिल्पी शूद्र तथा अकुशल श्रमिक शूद्र, कौटिल्य ने शूद्र सेना एवं शूद्र कर्षक का प्रमाण प्रस्तुत किया है जिसकी विस्तार से चर्चा इसी अध्याय के अगले अंशों में की जायेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि शूद्रों एवं वैश्यों के कार्यों में यथार्थ जीवन में कोई बहुत बड़ा विभेद नहीं विद्यमान था।

कलियुग वृत्तान्त में वैश्यों की स्थिति में गिरावट तथा शूद्रवत कर्मों में उनकी संलग्नता को दिखाने का प्रयास किया गया है। स्कन्द पुराण⁵³ में वर्णित है कि वैश्य लोग कलियुग में वाणिज्य व्यापार का परित्याग करके तैलवार तथा तंदुलकार (तेली तथा चावल कूटने वाले) बन जायेंगे और उनमें बहुत से लोग राजपुत्र सरदारों के आश्रित हो जायेंगे। इस प्रकार यहाँ पर भी वर्णगत ढांचे का परिहार ही दिखायी पड़ता है लेकिन ऐसे विवरणों को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जाता है कि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के क्रम में शूद्र दास और सेवक मुख्यतः आश्रित किसान (पट्टेदार, बटाईदार और खेतिहार मजदूर) बन गये थे।⁵⁴ इस प्रकार कृषिदासता के अभ्युदय एवं दासतामूलक अर्थव्यवस्था के पतन के माध्यम से

ऐसे इतिहासकारों ने सामाजिक संरचना के उस योरोपीय ढांचे को भारतीय सामाजिक ढांचे में फिट करने की कोशिश की जिसके अनुसार दासतामूलक अर्थव्यवस्था के बाद सामन्ती अर्थव्यवस्था का उदय होता है जिसका प्रमुख आधार उत्पादन सम्बन्धों में कृषिदासों एवं शूद्रों की भूमिका होती है। मौर्यों के पतन के बाद राजनीतिक नियंत्रण की आपेक्षिक शिथिलता तथा विदेशी आक्रमणों से आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को आघात लगा जिससे पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। अर्थव्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में धीरे-धीरे भूमि संसाधनों की मुक्त उपलब्धता, उत्पादन के साधनों का विकास, पारिवारिक विभाजन के कारण जमीन का बंटवारा तथा नियम विधानों और रीति रिवाजों से उच्चतर वर्णों की सेवा करने को बाध्य एवं बहुत बड़े शूद्र श्रमिक वर्ग का उदय इत्यादि विशेषताएं दिखायी पड़ने लगी और ऐसी अवस्थाओं में दास श्रम अनावश्यक प्रतीत होता हुआ मान लिया गया।

भारतीय सामाजिक संरचना को उपर्युक्त मार्क्सवादी अवधारणा एक ऐसी पूर्व परिकल्पित अवधारणा का बोध कराती है जिसमें शायद इन सारी अवस्थाओं के अस्तित्व को दिखाना उनकी विवशता थी। यथार्थ में ऐसा हुआ हो अथवा न हुआ हो, इस ढांचे की आवश्यकतानुसार उसे वैसा ही घटित होना चाहिए, ऐसे पूर्वाग्रहों से युक्त भारतीय सामाजार्थिक इतिहास की उपर्युक्त संरचना का पक्ष प्रस्तुत किया जाता है। पूर्वकाल एवं पूर्व मध्यकाल का

विभाजन भी एक ऐसी ही प्रतिबद्धता का द्योतक लगता है। वास्तव में मार्क्स ने तो इतिहास का अध्ययन करके यह मत व्यक्त किया कि ऐतिहासिक काल में विकसित होने वाली प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार की वर्ण संरचना और उनके संघर्ष को जन्म देती है।⁵⁵ अब यदि इस सिद्धान्त को भारतीय सन्दर्भ में रखकर देखा जाय तो पूर्वकालीन एवं पूर्वमध्यकालीन काल विभाजन के लिए सबसे पहले तो एक ऐसे वर्ग का अभ्युदय होना चाहिए जो मूलरूप से उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ा हो और तभी वर्ग संघर्ष की बात उठेगी तथा उसके बाद ही विकास की अगली अवस्था का अस्तित्व सम्भव हो सकेगा। अब भारतीय सन्दर्भों में उत्पादन प्रक्रिया पर किसी भी एक वर्ण का पूर्ण एकाधिकार दिखायी ही नहीं पड़ता (जैसा कि पिछले विवरणों से स्पष्ट है कि सभी वर्ण उत्पादन प्रक्रिया में शामिल थे) तो वर्ग संघर्ष के वर्णगत स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती और ऐसे में ऐतिहासिक विकास के अगले चरण अर्थात् सामन्ती अर्थव्यवस्था का प्रश्न कैसे उठ सकता है। शायद तभी मार्क्स ने इन समाजों की इतिहास की प्रमुख धारा का अपवाद मानकर अलग कर दिया। उसने इन्हें प्रगतिहीन समाजों की कोटि में रखकर इनके लिए उत्पादन प्रक्रिया का एक ऐसा विशिष्ट प्रकार प्रतिपादित कर दिया जिसे एशियाई उत्पादन प्रक्रिया के नाम से सम्बोधित किया गया। यह उत्पादन प्रक्रिया पौर्वात्य निरंकुशता के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित राज्य और पूर्णतया आत्मनिर्भर ग्राम्य गणतन्त्रों को असंख्य इकाइयों के एक ऐसे समाहार के रूप में देखी गयी

जिसके धरातल पर तो निरन्तर मार-काट, युद्ध, अराजकता और निरंकुश राज्यों एवं साम्राज्यों की स्थापना तथा विघटन का ताण्डव चलता रहता है किन्तु अन्तः स्थल एकदम शान्त और अपरिवर्तनीय रहता है। इन समाजों में न वर्ग संरचना होती है और न वर्ग संघर्ष। ये मानव इतिहास का अपवाद है। इनमें ऐतिहासिक विकास में दासतामूलक और सामन्ती अवस्थाएं न कभी आयी हैं और न आयेंगी।

अतएव आलोच्य सन्दर्भ में यह कतिपय इतिहासकारों का कहना नितान्त अप्रासंगिक है कि पूर्वकाल एवं पूर्वमध्य काल के बीच का विभाजन वर्ग संरचना पर आधारित था तथा वर्ग संघर्ष के कारण दोनों स्थितियों में अन्तर आ गया प्रतीत होता है। ऐसे परिवर्तनों के पीछे इनका प्रमुख तर्क यह है कि भूमि पर निजी स्वामित्व कायम हो गया था जिनसे भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े टुकड़ों पर कार्य करने वाले शूद्र दास मुक्त कर दिये गये तथा कृषि अब अर्थदासों पर निर्भर हो गयी है।⁵⁶ यही पूर्वकाल एवं पूर्वमध्यकालीन काल विभाजन का प्रमुख आधार है। इसे यदि साक्ष्यों की कसौटी पर कसा जाय तो यह दिखायी पड़ता है कि जिस काल में (मौर्यकाल) में ऐसे इतिहासकार बड़े-बड़े भूखण्डों में दासों के नियोजन की बात करके उसे दासतामूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज घोषित करते हैं वह साक्ष्यों से परे एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त है जिसकी चर्चा पूर्व मध्यकाल में है और जिन दासों की मुक्ति की बात की जाती है वे मात्र सैद्धान्तिक आदर्शों एवं

व्यवस्थाओं तक ही सीमित रह गये। यथार्थ में दासों की मुक्ति का औचित्य न तो तत्कालीन लोगों की समझ में आया और न ही उन्हें व्यावहारिक जगत में मुक्ति प्रदान की जाती थी अन्यथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, कृषि-कर्म उनके उपयोग, सैनिक कार्यों तथा गवाही एवं घरेलू कार्यों में नियोजन की बातें इत्यादि पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में न दिखायी पड़ती। पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक संरचना में जिन्हें कृषि दास के रूप में चित्रित किया जाता है उसे सीधे-सीधे शूद्र वर्ग से जोड़ दिया गया जबकि कात्यायन ने स्पष्टतया क्षत्रिय तथा वैय से भी कृषि कार्य लिए जाने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। यही नहीं भारत में योरोपीय सामन्तवाद के विपरीत न तो इसकी पृष्ठभूमि में लैटीफण्डिया जैसी कोई परम्परा देखने को मिलती है और न मैनर व्यवस्था जैसी कोई संस्था ही, जिसमें कृषि दासों द्वारा बनाये जाने वाले सामन्तों के बड़े-बड़े भूखण्डों, जिन पर कृषक जनसंख्या बना भूस्वामित्व के बसकर बिना किसी वेतन के कुछ खेतों के बदले बेगार करती रही हो, का ही अस्तित्व मिलता है।⁵⁷

इस प्रकार परिलक्षित होता है कि भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के व्यावहारिक यथार्थ में उत्पादन प्रक्रिया से किसी वर्ण या वर्ग विशेष की कोई सम्बद्धता नहीं थी। यदि वैश्य एवं शूद्र उत्पादन प्रक्रिया के प्रमुख स्तम्भ थे तो ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को उसमें भागीदारी अपवाद स्वरूप नहीं रही होगी। जहाँ तक दासों एवं अर्धदासों अथवा कृषिदासों का प्रश्न है, यथार्थ

जीवन में दास कभी भी उत्पादन प्रक्रिया में वाहक नहीं थे। इन्हें प्रायः प्रत्येक युग में घरेलू कार्यों के साथ कृषि कार्य एवं अन्य उत्पादक तथा इतर घरेलू कार्यों में नियोजित किया जाता था। अतएव ये किसी काल विभाजन का आधार नहीं बनाए जा सकते। दासों की स्थिति में निरन्तर पराश्रितता का दोष ही होता रहा। यह बात अलग है कि उन्हें कभी-कभी कई अधिकारों एवं प्रतिष्ठापूर्ण कार्यों से भी सम्बद्ध किया जाने लगा था लेकिन इसको व्यावहारिक जगत में उनकी मुक्ति का कारण न मानकर उलटे उनकी मालिक के साथ और अधिक सम्बद्धता ही मानना चाहिए क्योंकि मालिक के लिए शायद दासों की मुक्ति किसी भी युग में लाभकारी न रही होगी। इसीलिए कोई भी मालिक उन्हें कभी भी मुक्त न करने की अभिलाषा अपने मन में सदैव संजोये रखता रहा होगा। पूर्वकाल की अपेक्षा पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में दासों की संख्या एवं कोटियों में अभिवृद्धि (एक ऐसे युग में जबकि दास मुक्ति के लिए कई सैद्धान्तिक व्यवस्थाएं भी बना दी गई थी) इसका प्रबलतम प्रमाण है।

सेवि वर्ग एवं दास

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट होता है कि सामाजार्थिक संरचना में सेवि वर्ग की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि ये ही अर्थव्यवस्था की रीढ़ होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कुछ इतिहासकारों का एक वर्ग प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था को दासतामूलक अर्थव्यवस्था के रूप में प्रस्तुत

करता है और इस अर्थव्यवस्था की रीढ़ दासों की बताती है।⁵⁸ इन दासों द्वारा ही वे अधिकांश सेविवर्ग का निर्माण हुआ भी बताते हैं।⁵⁹ इस प्रकार उनकी दृष्टि में दासों एवं सेवि वर्गों के बीच कतिपय तकनीकी विभेदों को छोड़कर कोई अन्तर नहीं होता। अतएव आलोच्य सन्दर्भ में सेवि वर्ग के स्वरूप निर्धारण का प्रश्न समुपस्थित हो जाता है जिससे कि हम अपने उस मूल प्रश्न को हल कर पायेंगे कि जो सेवि वर्ग केवल दासों द्वारा ही बना था कहीं वह उस प्राचीन अर्थव्यवस्था की रीढ़ तो नहीं था। साथ ही उपलब्ध साक्ष्यों के आलोक में यदि ऐसा न दिखाई पड़ा तो सेवि वर्ग और दास वर्ग के बीच यथासंभव विद्यमान अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास प्रस्तुत सन्दर्भ में किया जायेगा। तभी यह सुस्पष्ट हो सकेगा कि दास भारतीय इतिहास के किसी भी काल की अर्थव्यवस्था में प्रमुख भूमिका निभाते थे अथवा नहीं। इस परीक्षण को हमने मुख्य स्थापनाओं के सन्दर्भित करने वाले अदृष्टार्थक एवं दृष्टार्थक विधानों के क्रमिक विश्लेषण प्रारम्भ किया है।

वर्ण व्यवस्था की परम्परागत योजना एवं यथार्थ जीवन के अनुपालन एवं अतिक्रमण का पूर्व विवेचन यह स्पष्ट कर देना है कि प्रश्नगत भारतीय समाजार्थिक संरचना में वर्ण कभी भी निर्णायक भूमिका में खड़े नहीं दिखाई पड़े इसलिए किसी वर्ण विशेष पर आधारित सेवि वर्ग के निर्माण की बात बहुत

उपयुक्त नहीं लगती। यद्यपि अदृष्टार्थक विधानों से परिपूर्ण धर्मशास्त्रीय मान्यताएं बार-बार वर्णगत ढाँचे के अन्तर्गत एक वर्ण विशेष से उत्पादन कार्य में नियोजित करने सम्बन्धी व्यवस्थाओं का उल्लेख करती है लेकिन दृष्टार्थक विधानों ने सर्वथा उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय कट्टरता की अवहेलना की और उत्पादन कार्य में समाज के विभिन्न वर्णों की बृहत्तर भागीदारी को रेखांकित किया। दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक का यह भेद पूर्ववर्णित उल्लेखों में स्पष्ट भी हो गया है। यथार्थ जीवन में धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अतिक्रमण के विस्तार से विवेचना की जा चुकी है। जिसमें मनु के पंक्तिपावन और अपंक्तिपावन ब्राह्मणों को क्रमशः आवश्यक योग्यताओं तथा लम्बी-चौड़ी सूची एवं उनके कार्यों का उल्लेख किया गया है। मनु की ऐसी विवशताओं ने कम से कम यह तो प्रमाणित ही कर दिया कि उस समय सेवि का निर्माण वर्णगत आनुष्ठानिक मान्यताओं के बजाय वे वास्तविक परिस्थितियाँ करती रही होगी जो उन्हें विभिन्न प्रकार के पेशों एवं सेवक सुलभ कार्यों के लिए विवश करती थीं।

इससे यह विदित होता है कि अच्छे-बुरे प्रत्येक प्रकार के व्यवसायों की भूमिका में ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक प्रत्येक वर्ण यथार्थ जीवन में दिखायी पड़ते रहे होंगे तथा कोई ऐसा अपराध और उसके लिए विहित दण्ड नहीं रहा होगा जो यथार्थ में किसी वर्ण विशेष का सदस्य होने के कारण ही उसे दिया जा सके।

अतः यह कहना कि शूद्र ही केवल सेवा का कार्य करते थे और शेष समाज केवल उनेक श्रम का शोषक था, उचित नहीं प्रतीत होता। इसीलिए यह मान्यता भी ठीक नहीं लगती कि मनु के सेवि वर्ग के केवल दास ही रहे होंगे या दासों की बहुलता रही होगी। सेवि वर्ग का निर्माण प्रत्येक वर्ण के जरूरतमन्द तथा परिस्थितियों से विवश लोग ही समय-समय पर करते रहे होंगे और दास भी इस वर्ग के संयोजक तत्वों में से एक रहा होगा। सेवि वर्ग के अन्य संयोजक तत्व, जिनका उल्लेख मनुस्मृति में⁶⁰ प्रेष्य, भृत्य, कर्मकर, गोपालक तेली आदि के रूप में मिलता है भी थे, ये सभी शूद्र वर्ण के ही रहे हों, यह आवश्यक नहीं है।

मनु के शास्त्रीय विधानों के बाद कौटिल्य को उस व्यवस्था पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है जो समाज को धर्मशास्त्रीय दृष्टार्थक विधानों से बाहर वास्तविक जगत के दृष्यार्थक विधानों से नियंत्रित करती है और अर्थ की ही मूलाधार के रूप में स्वीकार करके अनेक विधान बनाती है जिससे मनुष्य के उस वास्तविक कल्याण के साथ-साथ राज्य को भी मजबूत बनाने की भावना का बोध हो जाता है।

कौटिल्य की दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं होता वह दासता की किसी नैसर्गिक गुण के अभाव से नहीं बल्कि परिस्थितिजन्य विवशताओं के परिणामस्वरूप उद्भूत बताता है। कौटिल्य के राज्य की अवधारणा में राज्य मनुष्यवती भूमि के लाभ एवं पालन के माध्यम से मनुष्य की

जीविका उपलब्ध कराने का साधन मात्र है। उसकी अनिवार्यता उसके साध्य की अनिवार्यता से जुड़ी हुई है। मनुष्यवती भूमि के लाभ में बल प्रयोग की अनुमति देते हुए कौटिल्य युद्ध का अनुमोदन करता है और राज्य के गठन एवं संचालन में शक्ति और शक्तिशाली की भूमिका को अनिवार्य समझता है।⁶¹ इसी विचार से उत्प्रेरित होकर कौटिल्य ने शूद्रों की सेना की ब्राह्मणों की सेना से अधिक उपयुक्त बताया है और दासों तक की सेना के कार्यों में नियोजित करने की सलाह राजा को दी है।⁶² यहीं नहीं, कौटिल्य दासों की राजा के सबसे अधिक विश्वासपात्र के रूप में⁶³ भी चित्रित करता है।

कौटिल्य के शूद्र एवं दासता विषयक प्रयोग स्पष्ट होते हुए भी कहीं-कहीं अतिध्याप्ति के शिकार हुए हैं जिससे कुछ विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि कौटिल्य ने जिन शूद्रों की बात की है उनमें अधिकांशतया दास ही थे तथा शूद्र और दास एक दूसरे के पर्याय जैसे थे। उनको दासतामूलक समाज की अवधारणा के अनुरूप उत्पादन में प्रमुख भूमिका दासों की ही थी जो अधिकांशतया शूद्र वर्ग के थे इसलिए प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था एक दास आधारित अर्थव्यवस्था थी।⁶⁴ दासों पर आधारित होने के कारण इन दासों की शोषण की प्रत्येक विधा से गुजरना पड़ता था और कौटिल्य के दास मुक्ति के जो विधान बताए हैं वे केवल आर्यदासों के ही सन्दर्भ में लागू होते हैं।⁶⁵ ऐसे कथन निरापद नहीं हो सकते क्योंकि कौटिल्य अर्थशास्त्र में सेवि वर्गों के बीच दासों एवं शूद्रों की दो कोटियाँ तथा प्रत्येक को भी दो कोटियाँ अलग-अलग

दिखायी पड़ती हैं। अपवाद स्वरूप विवरणों को उस युग की सामान्य परिस्थिति मान लेना इस सन्दर्भ में एक ऐतिहासिक भूल होगी।

इन समस्याओं के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में प्राप्त उल्लेखों में विद्वानों के बीच हुए अधिक मतभेद की स्थिति दिखायी पड़ती है। परस्पर विचार वैषम्य के कारण ऐतिहासिक यथार्थ का बोध नहीं हो पाता। यदि इतिहासकारों का एक वर्ग एक ओर यह मानने के लिए कत्तई तैयार नहीं है कि मेगस्थनीज ने भारतीय दासता का सही स्वरूप प्रस्तुत किया था तो दूसरी ओर (वह इस बात के लिए भी कटिबद्ध दिखायी देता है कि प्राचीनकाल में शूद्रों एवं दासों में सामान्यतः कोई मौलिक अन्तर नहीं था और दासों का अधिकांश हिस्सा शूद्रवर्ग से ही आता था।⁶⁶ इन्हीं विचारधारों की पुष्टि करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि भारत में शूद्र के समस्त कार्य करते थे जो रोम और यूनान में दास किया करते थे लेकिन शूद्र दास नहीं थे।⁶⁷ ऐसे अन्तर्विरोध की स्थिति दासों के उन विवरणों से और भी स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जब कौटिल्य का सहारा लेकर यह कहा जाता है कि कौटिल्य ने दास मुक्ति का जो विधान किया है वह केवल आर्यदासों के लिए ही था शूद्र दासों के लिए उसका निषेध था।⁶⁸ एक दूसरे स्थल पर कौटिल्य को उद्धृत करते हुए यह भी कहा जाता है कि कौटिल्य के अनेक नियम जो दासों की मुक्ति के बारे में हैं। मात्र दासता की स्थिति में पहुँचा दिये गये आर्यों पर ही लागू होते हैं।⁶⁹ लेकिन एक अन्य स्थल पर यह उद्धरण दिया जाता है कि दासों के प्रति किये जाने वाले बर्ताव

को विनियमित करने के लिए कौटिल्य ने कुछ नियम बनाये हैं जो शूद्र दासों तथा उच्च वर्ण के दासों पर भी लागू होते हैं।⁷⁰ यही नहीं मूल्य चुका देने पर शूद्र दासों को मुक्त करने की व्यवस्था भी कौटिल्य ने की है।⁷¹ कौटिल्य ने यह स्पष्टतया कहा है।⁷² कि जो दास आठ वर्ष से कम का हो और सगा सम्बन्धी विहीन हो उसे हीन व्यवसायों में नहीं लगाया जा सकता और न ही उसे विदेश में बेचा या बंधक रखा जा सकता है। कौटिल्य आर्यों के दासमान का निषेध करता है। लेकिन घरेलू संकट, जुर्माना, ऋण आदि परिस्थितियों में आर्य को भी दास बनाने की बात वह स्वीकार करता है।⁷³ थोड़ा सा उसके प्रति कौटिल्य ने सहानुभूति यह दिखायी कि वे अपवित्र कार्यों में लगाया जाय। आहितक दासों को मुक्ति के लिए कौटिल्य ने कई व्यवस्थाएं प्रदान की है।⁷⁴ अर्थशास्त्र में दासों को सम्पत्ति रखने का अधिकार⁷⁵ देते हुए कौटिल्य ने दास दासियों को खानों में कार्य करने तथा उससे होने वाली आय से राज्य को सुदृढ़ करने की बात भी की है।⁷⁶ कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी कि जो लोग राजा से असंतुष्ट हों उनका दमन करने के लिए उन्हें खदानों में कार्य करने के लिए भेज देना चाहिए।⁷⁷ ऐसे राजद्रोहियों के मामले में कौटिल्य मनुष्य-मनुष्य के बीच वर्ण अथवा रंग के हिसाब से कोई विभेद करता हुआ नहीं प्रतीत होता। दासता की यह एक परम्परागत प्रथा के रूप में भी देखता है जो संस्कृतियों के भेद के साथ-साथ अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत होती है।

इसीलिए वह आर्यों के दास्य भाव को तो निषेध करता है लेकिन म्लेच्छों के दास्य भाव को उससे पृथक करता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दासों की मिलने वाली विभिन्न कोटियों में युद्धबन्दी दासों से लेकर भक्तदासों तक कई प्रकार के दासों का विवरण मिलता है। उस समय दासों की 2 कोटियों के निदर्शन मिलते हैं। कुछ दास दास होने के पूर्व की अपेक्षा अच्छी स्थिति में रहते थे और कुछ दासों की केवल घरेलू कार्यों में मालिक की मर्जी पर ही विकृत मदिरा, भोजन एवं वस्त्रादि पर अपनी जीविका का निर्वाह करना पड़ता था। कौटिल्य दासों की विष्टि कर्मकरों तथा दण्ड प्रकृतियों के साथ कृषि कार्य⁷⁸ में लगाने का उल्लेख तो करता है लेकिन व्यक्तिगत रूप से अथवा राजकीय रूप से उन्हें उत्पादन कार्यों में अकेले लगाया गया वहीं नहीं दिखाता। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि कौटिल्य उन्हें सैनिक कार्य जैसे महत्वपूर्ण कार्यों में भी लगाने का विधान प्रस्तुत करता है। अर्थात् अकेले दास श्रम को कृषि में नियोजन का जिक्र अर्थशास्त्र में कहीं भी नहीं मिलता। अतः जब तक अर्थशास्त्र में उल्लिखित विभिन्न प्रकार के श्रमिकों को दासों की विभिन्न कोटियाँ न मान लिया जाय दासता को कृषि कर्म का प्रधान आधार नहीं माना जा सकता। कुछ दासों को राजकीय उपयोगों में भी लगाया जाता था लेकिन अर्थशास्त्र में उल्लिखित उद्योग एवं कृषि ही दासों एकमात्र कार्य नहीं थे। घरेलू कार्यों में

उनके नियोजन को पर्याप्त प्रधानता दी गयी है। अर्थशास्त्र में दासों को संदेशवाहक के रूप में भी चित्रित किया गया है।⁷⁹

अर्थशास्त्र के उपर्युक्त दासता विषयक विवरणों में उनकी दो कोटियाँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसी प्रकार शूद्रों की भी दो कोटियाँ दिखाई पड़ती हैं। सम्भवतः इसीलिए कतिपय विद्वानों⁸⁰ को यह भ्रम हो गया था कि दास और शूद्र लगभग एक हैं और सेवि वर्ग केवल इन्हीं शूद्रों से बना था। अर्थशास्त्र के सूक्ष्म निरीक्षण से यह अनुमान लगाना सहज ही है श्रम के मुख्य अंग के रूप में शूद्रों को विशाल पैमाने पर कृषि व्यापार तथा पशुपालन के क्षेत्र में लगाया जाता था जिसके लिए कौटिल्य ने 'कारुकुशील व कर्म'⁸¹ एवं 'वार्ता'⁸² शब्द का प्रयोग किया है। कतिपय इतिहासकारों की यह भी अवधारणा है कि शिल्प और कारीगरी केवल शूद्रों के ही कार्य थे। कौटिल्य 'शूद्र सेना' की बात करके सैनिक कार्यों में भी इनको नियोजित करने की बात करता है। यही नहीं, वह शूद्र समेत चारों वर्णों की आर्य समुदाय का आवश्यक अंग बताते हुए उन्हें म्लेच्छों एवं अनार्यों से पृथक भी करता है।⁸³

कौटिल्य ने शूद्रों को दास, कर्मकर और अन्य प्रकार के श्रमिकों की कोटि से ऊपर रखने का प्रयास किया है। उसने शूद्रों को करदाता की सूची में रखा है। वह शूद्रों को अर्द्धसैत्तिक के रूप में चित्रित करते हुए उनके भू स्वामित्व के भी कतिपय संकेत देता है। ये स्थितियाँ कौटिल्य कौटिलीय राजतन्त्र में दासों एवं कर्मकारों से पृथक उनकी स्वतन्त्रता और उच्चतर स्थिति

को स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। गौतम धर्मसूत्र से चली आ रही प्रथा को दोहराते हुए कौटिल्य द्वारा शूद्रों के व्यवसाय में 'वार्ता' का उल्लेख, भूस्वामित्व और उद्योग तथा व्यापार में उनके स्वतन्त्र अस्तित्व के बिना अर्थहीन हो जायेगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि सभी शूद्र स्वतन्त्र रूप से वार्ता सेवी ही थे। उनमें से अनेक अपने आर्थिक विपन्नता के कारण कर्मकर विष्टि तथा दास श्रमिकों की कोटि में भी रहे होंगे। अतः कम से कम अर्थशास्त्र में उल्लेखों के आलोक में जो दृष्टार्थक विधानों को सूत्रधार कहा जा सकता है, दासों से ऐसे शूद्रों की अभिन्नता नहीं स्थापित की जा सकती लेकिन सारे के सारे शूद्र इसी कोटि में आते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र एवं दास में कुछ सीमा तक तो कार्यगत समानता थी लेकिन विशिष्ट कार्यों में अन्तर न उभर पाने के कारण ही तत्कालीन सामाजिक संरचना मूल ढांचे की दास श्रम पर आधारित ढांचा बता दिया गया जिसमें शूद्र दासों की ही भूमिका को रेखांकित कर दिया गया। लेकिन वस्तुतः शूद्रों एवं दासों में बहुत अन्तर था। इस तरह न तो सेवि वर्ग अकेले दासों के ही नियोजन का परिणाम था और न अकेले शूद्रों के नियोजन का ही। सेविवर्ग के दास और गैरदास दोनों कोटियों के अन्तर्गत शूद्रों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के लोग भी निश्चित रूप से रहे होंगे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दास और कर्मकर के प्रयोग प्रायः एक साथ हुए हैं जिसके कारण एक तरफ तो सेवि वर्गों में दासों एवं कर्मकरों की एक

दूसरे का पर्याय मान लिया गया और दूसरी तरफ दासों एवे कर्मकरों के उल्लेखों के आधार पर ही प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था का दासता मूलक ढांचा खड़ा कर दिया गया। वस्तुतः अर्थशास्त्र में ही दोनों के बीच का अन्तर स्पष्टतया विद्यमान है जिसकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है। अर्थशास्त्र में कर्मकरों की धातु विशेषज्ञ, करदाता, पारिश्रमिक व वेतन प्राप्त करने वाला बताया गया है। लेकिन कुछ कर्मकरों की घरेलू नौकरों की भाँति विकृत मदिरा, भोजन एवं वस्त्र पर ही जीविका का निर्वाह करते हुए दिखाया गया है। इतना अवश्य है कि इन सेवि वर्गों में रखे गये लोगों के कार्य कुछ सीमा तक दासों के कार्यों से समानता रखते थे लेकिन कार्यगत समानता के सीमित सन्दर्भों की उनकी विशिष्ट पहचान के साथ संबद्ध कर देना अनुचित होगा। शूद्रों एवं दासों को मोटे तौर पर एक दूसरे का पर्याय मानने वाली धारणा के पक्ष में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि शूद्रों को सेवा कार्य में लगाने की परम्परा भारत में अति प्राचीन थी। इसिलए सेवा कार्य में लगे हुए दास भी अधिकांशतः शूद्र वर्ण ही आते रहे होंगे। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि इस तरह के धर्मशास्त्रीय विधान पूर्णतया अदृष्टार्थक है और अदृष्टार्थक दृष्टि से सत्य होने पर भी इन विद्वानों द्वारा स्थापित की गई शूद्र—दास समानता वास्तविक अथवा यथार्थिक नहीं हो जाती। इतिहास अतीत के यथार्थ का वाहक होता है न कि अदृष्टार्थक मूल्यों का जिनसे अनुप्राणित सिद्धान्त प्रत्येक समाज में अधिकांशतः अवहेलना के शिकार हाकते हैं।

दासता सन्दर्भित अर्थव्यवस्था का स्वरूप

उत्पादन प्रक्रिया में वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक भूमिकाओं को देखने से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि प्राचीन युग में भारतीय अर्थव्यवस्था किसी वर्ण विशेष की सीमा में कैद नहीं थी। प्रायः यही कारण है कि मनु जैसे अतिवादी विचारकों के लिए भी यह मुश्किल हो गया था कि वे वर्णों की उस सैद्धान्तिक योजना की राह पर तत्कालीन समाज को निरपवाद रूप से चला पाते। अतएव उन्होंने अपंक्ति पावन ब्राह्मणों की सूची देकर यदि ब्राह्मणों के लिए सभी प्रकार के कर्मों को अपनाने का द्वार बन्द नहीं किया तो उन्हें शूद्रों एवं दासों को क्रमशः ब्राह्मणोचित कर्मों एवं पारिवारिक हैसियत में सम्मानित स्थान देने के लिए भी विवश होना पड़ा। सेवि वर्ग के उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से यह बात उभरकर आयी कि पूर्वकाल में सेवि वर्ग का निर्माण केवल शूद्र अथवा शूद्र दासों से ही नहीं होता था अपितु उसमें सभी वर्णों की भागीदारी हुआ करती थी। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक प्रत्येक वर्ण के लोग किसी व्यावसायिक सीमा में बंधकर यथार्थ जीवन में सभी व्यवसायों में प्रविष्ट होते रहे और अधिकांशतया ये व्यवस्थाएं अपराध एवं दण्ड की सीमा से मुक्त भी हो गयीं। ब्राह्मण यदि प्रधानतया वेदाध्ययन, दान प्रतिग्रह आदि को अपनाए हुए था तो वह कृषक एवं चाण्डाल की कोटि में भी खड़ा दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार यदि शूद्र मुक्त

होने के बाद भी दासता से मुक्त नहीं दिखाया गया तो वही शूद्र वर्ग वेदज्ञ एवं शिक्षक के रूप में भी खड़ा दिखाई देता है। यहीं हालत दासों के सम्बन्ध में भी देखी जा सकती है। यदि एक ओर दास पराधीनता की पराकाष्ठा के सारे लक्षणों को स्वयं में समेटे हुए था तो दूसरी ओर वह गवाही जैसे महत्वपूर्ण कृत्य (जिससे किसी को फांसी हो सकती थी और किसी को जीवनदान मिल सकता था) की भी सम्पन्न करता हुआ तो दिखायी ही पड़ता है। इसलिए एक मात्र दासों को शोषितों की कोटि में रखना आलोच्य सन्दर्भ में उचित नहीं है। इस प्रकार भारत समाज का सेवि वर्ग न तो पूर्णतया दासों एवं शूद्रों पर निर्भर था और न दास पूर्णतया रोम एवं यूनान के दासों की भाँति ही यहाँ दिखाई पड़ते हैं। शायद तभी मेगस्थनीज⁸⁴ की भारत में दासों के अस्तित्व का बोध नहीं हो सका। इस प्रकार पूर्वकालीन उत्पादन पद्धति की भारतीय अवधारणा में अर्थव्यवस्था का भार अकेले किसी एक वर्ग पर आश्रित न होकर बल्कि एक सेवक वर्ग पर केन्द्रित था जिसमें मुख्यतः निम्नवर्गीय श्रमिकों अथवा शूद्रों की संख्या सर्वाधिक थी। एक तरफ राज्य द्वारा इनका शोषण होता था और दूसरी तरफ धर्म शास्त्रीय विधानों के साथ-साथ अर्थशास्त्र ने भी शूद्रों की द्विजों की शुश्रूषा से पृथक नहीं रखा और उन्हें अपनी जीविका के लिए पूर्णतया उच्च वर्ण के मालिकों पर निर्भर रहना पड़ता था।⁸⁵ यहीं नहीं, ऐसे विद्वानों ने शूद्रों को कृषि का अधिकार देने की बात का तो समर्थन किया लेकिन उसे दूसरे रूप में परिभाषित करते हुए यह मत व्यक्त किया कि इस काल में शूद्र जमीन

के साथ बंधा हुआ था जो मूलरूप से उच्चवर्णों का दास था।⁸⁶ दूसरे शब्दों में दासों की कृषि कार्य में राज्य की ओर से नियोजित करने की बात की पुष्ट करके उनके श्रम से उपार्जित आय से राजकीय कोश में वृद्धि को पूर्वकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रधान कारक बता दिया गया। इन्हीं विवेचनाओं के सहारे इन इतिहासकारों ने पूर्वकालीन भारतीय समाज की दासता मूलक समाज घोषित किया और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था को दासतामूलक अर्थव्यवस्था बताया। इनकी दृष्टि में मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर राज्य का बहुत बड़ा नियंत्रण था।⁸⁷ राज्य व्यापार, उद्योग और खानों पर नियंत्रण तो करता ही था, राजकीय प्रेक्षेत्रों के अध्यक्ष दासों और कर्मकरों से काम कराने के साथ ही इस कार्य के लिए लोहारों, बढ़इयों और मिट्टी खोदने वालों से भी काम लेता था। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य दासों, कर्मकरों, शिल्पियों और आदिवासियों जो कि स्पष्टतया शूद्र वर्ग के थे, बहुत बड़ा नियोजक था। इस दृष्टि से इस काल का कृषि उत्पादन संगठन ग्रीस और रोम के संगठन से कुछ हद तक मिलता-जुलता था।⁸⁸ दासतामूलक समाजार्थिक परिवेश की भारत में प्रतिष्ठित करने के लिए प्रायः ऐसे-ऐसे अर्थशास्त्र के अंशों को उद्धृत किया गया जो या तो उन सन्दर्भों से संगत नहीं है जिनमें उनका उपयोग सन्दर्भों को नजरंदाज कर दिया गया जो उनकी वैचारिक योजना के पूर्व निःसृत निष्कर्ष से मेल नहीं खाते थे।

ऐसे कुछ उदाहरणों पर विचार करना आवश्यक है जो दासतामूलक अर्थव्यवस्था की बात को प्रमाणित करते हुए प्रतीत होते हैं। कौटिल्य ने लिखा है कि राज्य को चाहिए कि नई बस्तियों में भूमि को कृषि योग्य बनाकर करदाताओं को जीवन भर के लिए दे दें। कर की अदायगी की पूर्ण जिम्मेदारी उनकी होती थी। राज्य की उनसे अधिक से अधिक मात्रा में कर वसूल करने का प्रयत्न करना चाहिए लेकिन यह अधिकार केवल उसी सीमा तक उन्हें दिया गया कि वे कृषकों की मर्जी के बगैर ऐसा नहीं करेंगे।⁸⁹ यदि वे भविष्य में कर अदायगी करना बिल्कुल बन्द कर दें तो राज्य उनसे तत्कल जमीन वापस ले ले।⁹⁰ यहाँ पर यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि कौटिल्य ने ऐसी नई बस्तियों में शूद्रों को बसाने की प्राथमिकता पर बल दिया है। कौटिल्य के इन विवरणों से दो-तीन बातें निकलती हैं। एक तो यह कि नई बस्तियाँ प्रधानतया शूद्र बस्तियाँ हुआ करती थी।⁹¹ दूसरे, शूद्र कृषि कार्य करते थे, और राज्य द्वारा आरोपित भारों का वहन करने की प्रायः समस्त क्षमताएं होती थी। तीसरे यह कि कर न देने पर उनसे जमीन वापस ले ली जाय। स्पष्ट है कि इस पूरे प्रसंग में ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि शूद्र राज्य के दास थे। लेकिन कतिपय अत्यन्त सजग इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया कि दासों से जमीन उसी दशा में वापस ली जाती थी जब उनकी दण्ड दासता से मुक्ति मिल जाती थी।⁹² इसी विवरणव की कुछ इतिहासकार अपने ढंग से व्याख्यापित करते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि नई बस्तियों के शूद्र

किसान बेगारी से मुक्त नहीं थे।⁹³ कौटिल्य के उक्त विवरण में उन्हें बेगार प्रथा का अस्तित्व दिखायी पड़ता है।

ऐसे ही अर्थशास्त्र के कुछ और विवरण हैं जो खींचतान करके शूद्रों को दास वर्ग के पर्याय के रूप में सिद्ध करने में सहायक हो गये। एक स्थल पर कौटिल्य 'गोप' नामक अधिकारी की करदाताओं की सूची बनाने का आदेश देता है। उसे यह निर्देश दिया जाता था कि वह प्रत्येक गांव के निवासियों की कुल संख्या और समाज में उत्पादन कार्य करने वाले विभिन्न वर्ग, जिनकी संख्या आधा दर्जन थी, के लोगों अर्थात् कर्षक (किसान), (शिल्पी) कर्मकर और दासों की कुल संख्या लिखकर रखे।⁹⁴ इस सूची के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त की गई कि इसमें प्रथम तीन तो वैश्य वर्ण के हैं और शेष तीन (कारुक, कर्मकर और दास) शूद्र वर्ण के हैं।⁹⁵ अर्थात् इनकी दृष्टि में शूद्रों के अलावा न तो किसी अन्य वर्ण का व्यक्ति कर्मकर या कारुक हो सकता है और न दास ही जबकि भारतीय सामाजिक संरचना के यथार्थ जगत में इसका निषेध ही नहीं बल्कि इसकी बहुलता भी दिखायी पड़ती है, जिसका स्पष्ट प्रमाण अदृष्टार्थक विधानों के उद्देश्य से बनायी गई धर्मशास्त्रीय मान्यताओं में बार-बार उत्पन्न होने वाली उन शंकाओं में देखा जा सकता है जहाँ, इसके डर से कि कहीं उच्च वर्णों की सैद्धान्तिक उच्चता इस वास्तविक यथार्थ से डगमगा न जाय, उच्च वर्णों के लिए अनेक ऐसे निषेधात्मक दण्ड एवं प्रायश्चित्त विधानों की चर्चा की गई है।

इन कतिपय उदाहरणों से यह विदित होता है कि पूर्वकालीन समाजार्थिक संरचना के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों का समुदाय अपनी कतिपय वैचारिक प्रतिबद्धताओं के कारण इस समाज को दासतामूलक समाज एवं उस पर आधारित अर्थव्यवस्था वाला युग घोषित करता है जबकि उपर्युक्त सूक्ष्मावलोकन से ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः भारतीय इतिहास में योरोपीय सामन्तवाद की प्रवृत्तियों को ढूढ़ने के प्रयासों ने ही यह सारा जाल बुना है। भारतीय समाज की इस पूर्वकालीन अवस्था में यूरोप की तरह दासतामूलक समाज की झलक मिलनी चाहिए ऐसी पूर्व निश्चित अवधारणाओं को पहले से ही मानकर भारतीय इतिहास लेखन का जो प्रयास किया गया उसमें दास के बड़े-बड़े भूखण्डों से बांधना एक ऐसी विवशता थी जिसके बिना दास श्रम पर आधारित उत्पादन व्यवस्था की चर्चा ही नहीं की जा सकती। परन्तु भारतीय परिवेश का यथार्थ इसका निषेध ही प्रस्तुत करता है, समर्थन नहीं।

चूँकि भारत में दासता को उत्पादन व्यवस्था का मूलाधार मानने वाले इतिहासकारों ने पाश्चात्य विश्व के दास-समाजों की तर्ज पर भारतीय दासता का स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और उपर्युक्त विवचेनाएं इसे अस्वीकृत करती हुयी प्रतीत होती हैं इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि कम से कम उस पाश्चात्य दास अर्थव्यवस्था के प्रमुख कारकों को भी स्पष्ट करते हुए तथाकथित भारतीय दास अर्थव्यवस्था से उसकी तुलना करके देख

लिया जाय जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था में दासों की भूमिका का सही आकलन किया जा सके।

दासतामूलक अर्थव्यवस्था की विश्वस्तरीय सामान्य अवधारणा पर अनेकानेक कार्य हुए हैं। बैरी हिन्डेस⁹⁶ पेरी एण्डरसन⁹⁷, ओमप्रकाश⁹⁸ जैसे अनेकों इतिहासकारों ने मार्क्स द्वारा प्रस्तुत उत्पादन पद्धति पर विचार करते हुए उसे विश्व जनीय परिप्रेक्ष्य में ढूढ़ने का प्रयास किया है। उनके इस प्रयास में वर्ग संघर्ष एवं ऐतिहासिक भौतिक प्रगति का जो स्वरूप समुपस्थित हुआ उसमें दासों की भूमिका यूनानी जगत में बखूबी दिखायी पड़ी। इन्हीं उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों के माध्यम से ही सामन्तवाद की अवधारणा अभिव्यक्त होती है। विश्व के रंगमंच पर इस सामान्तवाद की सैद्धान्तिक अवधारणा का उदय कार्ल मार्क्स के चिन्तन में उन्नीसवीं शताब्दी ई0 में हुआ था। उनके अनुसार समस्त इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। वर्गों का उदय उत्पादन सम्बन्धी से होता है। अतः ऐतिहासिक काल में उदित होने वाली प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार की वर्ण संरचना और उनके संघर्ष को जन्म देती है। योरोपीय इतिहास का अध्ययन करके कार्ल मार्क्स ने दासतामूलक उत्पादन प्रक्रिया पर आधारित यूनानी और रोमन साम्राज्यों की प्राचीन काल के मानक समाजों के रूप में प्रस्तुत किया और रोमन साम्राज्य के पतन से चौदहवीं शताब्दी ई0 तक के पुनर्जागरण काल के योरोपीय समाज को सामन्ती समाज की संज्ञा से अभिहित किया। जिस प्रकार दासतामूलक

समाज के अन्तिर्विरोधों से अनुप्राणित वर्ग संघर्ष से सामन्ती समाज का उदय हुआ, मार्क्स की दृष्टि से, उसी प्रकार सामन्ती समाज के अन्तिर्विरोधों से प्रेरित वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप यूरोप के आधुनिक पूंजीवादी समाज का अभ्युदय हुआ।⁹⁹

किसी भी समाज को दासतामूलक समाज घोषित तभी किया जा सकता है जबकि उसमें दासतामूलक उत्पादन की अवधारणाएं विद्यमान हैं। दास श्रम पर आधारित उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन सम्बन्ध तीन विभिन्न संस्तरों पर समान रूप से दिखायी पड़ना चाहिए।¹⁰⁰ (1) सम्पत्ति या भूमि का स्वरूप तथा उसमें उनके उपभोक्ताओं की विधिक स्थिति (2) उत्पादन का वितरण तथा (3) अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति एवं उसका समायोजन। किसी भी दास आधारित समाज की व्याख्या के लिए इन अवस्थाओं को जानना आवश्यक है। दासतामूलक समाज में दास उत्पादन के आवश्यक साधन होते हैं और उनकी सामाजिक पहचान उनके श्रम के विभेदीकरण से ही होती है जिसे निजी सम्पत्ति के रूप में रखा जाता है। इस व्यवस्था में दास अपने मालिक के प्रति सीधे उत्तरदायी होता है और वह विधिक रूप में उसकी सम्पत्ति होता है।¹⁰¹ चल सम्पत्ति के रूप में उनकी अपने मालिक से अलग कोई सामाजिक हैसियत नहीं होती और वे अपने उदर पोषण के लिए पूर्णतया अपने मालिक की अनुकम्पा पर ही निर्भर रहते हैं।¹⁰² इस प्रकार दास-स्वामी का यह दासतामूलक समाज की पारस्परिक सम्बन्ध उसी प्रकार का होता है जैसे कि

पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर वर्ग एवं उनके नियोक्ताओं के बीच अथवा श्रमिक एवं राज्य के बीच होता है।¹⁰³

दास आधारित उत्पादन प्रक्रिया की दूसरी विशिष्टता उसके उत्पादनों का वितरण है।¹⁰⁴ इस व्यवस्था में दास उपभोग की एक वस्तु की तरह होते हैं। उनका किसी भी रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। वे घरेलू नौकर पराश्रित श्रमिक अथवा उपभोग की वस्तु के रूप में मालिक के साथ जुड़े होते हैं। उनकी मुक्ति कोई व्यवस्था इसमें नहीं दिखायी पड़ती। इन दासों की एक वस्तु के रूप में बाजार में बेचा जा सकता है। ऐसे समाजों में, जहाँ दास श्रम ही उत्पादन का प्रमुख आधार होता है, दास मालिक के साथ उत्पादक श्रमिक के रूप में नहीं जुड़े होते बल्कि वे एक सम्पत्ति की तरह होते हैं और मालिक उसे किसी भी रूप में प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र होता है। ये मालिक अपने दासों को कच्चा माल उपलब्ध कराते हैं, उन्हें आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराते हैं तथा इनका पूर्ण एकाधिकार है उनसे बड़े-बड़े कृषि फार्मों पर कृषि करवाते हैं और खानों में उनसे उत्खनन कार्य करवाते हैं। इस प्रकार मालिक के पूर्ण नियंत्रण में उत्पादित समस्त उत्पादन मालिक का होता है।¹⁰⁵ दास की तो केवल गुजारे भर के लिए ही भोजन मिलता है।

इस प्रकार दासतामूलक अर्थव्यवस्था में प्रत्येक व्यवस्था किसी न किसी उत्पादन से जुड़ी होती है और दास स्वयं उस उत्पादन पर अपना कोई दावा नहीं पेश कर सकता यद्यपि वह पूरा का पूरा उन्हीं के खून-पसीने से सींचा

गया होता है। इस प्रकार दासतामूलक अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था होती है जिसमें दासों की उत्पादन व्यवस्था से तो बाँधा रखा गया है लेकिन उसके उपभोग से उन्हें पूर्णतः वंचित कर दिया जाता है। दासों को उनके श्रम से उत्पन्न उत्पादन के उपभोगपरक लाभ से अलग करके उन्हें स्वयं एक वस्तु के रूप में सन्निवेशित करते हुए मालिक की सख्त निगरानी में रखा जाता है।

दास आधारित उत्पादन प्रक्रिया की तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसकी अतिरिक्त उत्पादन की विनियोजन पद्धति से जुड़ी हुई है।¹⁰⁶ इस प्रक्रिया के अन्तर्गत दास श्रम द्वारा उत्पादित समस्त उत्पादन सीधे मालिक के पास जाता है। दास मालिक उस उत्पादन पर अपना वैसा ही अधिकार समझता है जैसा कि वह अपने दासों पर। इस प्रकार दास भी अपने श्रम के बदले मालिक द्वारा जीविका निर्वाह हेतु भोजन, वस्त्रादि प्राप्त कर लेता है। लेकिन जीविका निर्वाह के इन संसाधनों पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। अतिरिक्त उत्पादन की इस विनियोजन पद्धति के अन्तर्गत दास एक अस्थायी सम्पत्ति के रूप में होता है और जैसे कोई व्यापारी एक निश्चित पूंजी लगाकर किसी व्यापार को करते हुए लाभ कमाता है और उस लाभ के बाद वह पुनः उसी पूंजी को अगले व्यापार में लगाकर दूबारा लाभ कमाने की स्थिति में पहुँचता है उसी प्रकार दास श्रम के विनियोजन पद्धति के इस ढाँचे में दासों की भी ऐसी ही पूंजी के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

माक्स¹⁰⁷ ने स्वयं इसी अवधारणा की परिपुष्ट किया है जिसके अनुसार पहले दासों को खरीदने में पूँजी सन्निविष्ट की जाती है और फिर उन्हीं दासों द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त करके उस वस्तु को बाजार में बेचा जाता है। इस प्रकार जो पूँजी प्राप्त होती है वह वस्तुतः दासों के श्रम द्वारा उपलब्ध अतिरिक्त उत्पादन ही होता है। अतएव दास इस तरह से एक ऐसी पूँजी की तरह होते हैं जिनसे सदैव अतिरिक्त उत्पादन की संभावना बनी रहती है।

इस प्रकार माक्स के दासों के श्रम को सामर्थ्य को ठीक उसी प्रकार बताया है जैसे कि बैलों की हल खींचने आदि की सामर्थ्य।¹⁰⁸ इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतिरिक्त उत्पादन पद्धति में दास अपने मालिक की एक सम्पत्ति होता है। इस व्यवस्था में राज्य की भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतिरिक्त उत्पादन प्रक्रिया की इस दास आधारित अर्थव्यवस्था में दास सम्पत्ति, राज्य द्वारा इसकी प्रभावी गारंटी तथा उत्पादन के उपभोग से दासों की प्रभावी असम्बद्धता इत्यादि का होना अत्यावश्यक है तभी ऐसी अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति का प्रश्न उत्पन्न होगा।

दासतामूलक अर्थव्यवस्था के उपर्युक्त बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में अब यह देखना होगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था के जिस युग की दासतामूलक अर्थव्यवस्था की संज्ञा से अभिहित किया जाता है वह किस सीमा तक दासतामूलक अर्थव्यवस्था की अपेक्षाओं को पूरा करती है। मौर्यकालीन राज्य की संरचना में कृषि एवं अन्य उत्पादन का अत्यन्त महत्व था। कौटिल्य के अपनी सूझबूझ से राज्य से

प्रत्येक भाग को राजकीय नियंत्रण से मुक्त न रखने की चेष्टा की। आलोच्य काल में, अधिकांश भूमि पर राज्य का कड़ा नियंत्रण था जिसके लिए सीताध्यक्ष जैसे महत्वपूर्ण पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी।¹⁰⁹ मौर्यकालीन राजनीतिक प्रक्रिया की एक खास विशेषता यह थी कि वह उत्पादन पर अपना एकाधिकार सदैव कायम रखना चाहती थी।¹¹⁰ इसलिए उसने हमेशा उन पर सीधी निगरानी रखी। प्रत्येक प्रवृत्तियों पर राजकीय नियंत्रण के कारण ही कोसांबी ने मौर्य राज्य को एक निरंकुश राज्य मानते हुए इसकी तुलना चीन के अधिनायकवादी सामंतवाद से की है।¹¹¹

मौर्यकाल में निजी स्वामित्व की बात को नकारते हुए कोसांबी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि करदाताओं की कौटिल्य ने जमीन को बँचने या बन्धक रखने का अधिकार नहीं दिया था।¹¹² केवल उन जमीनों को ही बेचने का अधिकार था जो ब्राह्मणों की पौरोहित्य कर्मों के लिए अनुदान में मिली हुयी थी।¹¹³ यह भूमि के हस्तान्तरण का एक सीमित सन्दर्भ उपस्थित करता है। कौटिल्य ने व्यक्तिगत व्यापारियों को 'कण्टक' के रूप में चित्रित किया है जिन्हें वह प्रजा का शत्रु बताता है।¹¹⁴ इसी प्रकार जुआखानों, वेश्यालयों एवं मदिरालयों से होने वाली आय पर राज्य से पूर्ण एकाधिकार की बात कौटिल्य करता है। यहाँ तक बूचड़खानों पर भी उसका पूर्ण नियंत्रण होता था। राजा की भी भूमि के हस्तान्तरण का अधिकार अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों में ही दिया गया है।¹¹⁵ करदाताओं की सूची, अपव्यय का पूरा विवरण कौटिल्य के

प्रशासन की प्रमुख विशेषताएं थीं जिनके लिए तरह-तरह के अधिकारियों को नियुक्ति का प्रावधान था। आर०एस० शर्मा एवं डी०डी० कौसाम्बी दोनों ने ही गोप द्वारा करदाताओं की सूची के साथ नागरिकों की सूची बनाने का जिक्र अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। जहाँ एक ओर इस सूची के आधार पर शर्मा ने छः वर्गों में से प्रथम तीन वर्गों—कर्षक, गोरक्षक तथा वैदेहक को वैश्य बताता है वहीं शेष तीन वर्गीकारुक, कर्मकर तथा दास की शूद्र वर्ण घोषित किया है।¹¹⁶ इसी तरह की कतिपय व्यवस्थाएं कोसांबी द्वारा प्रस्तुत की गई जिसमें कौटिल्य के उन निर्देश का जिक्र किया गया है जहाँ वह यह कहता है कि शूद्रप्रधान नई बस्तियों के कृषकों से अधिकाधिक कर वसूली की जानी चाहिए लेकिन ऐसा करने में कृषकों की मर्जी के खिलाफ कोई वसूली नहीं होनी चाहिए। यदि इस नई बस्ती के कृषक कर देना बिल्कुल बन्द कर दें तो उनसे जमीन वापस लेकर किसी अन्य को बटाई पर दे देनी चाहिए। कौटिल्य की इस व्यवस्था पर कोसांबी ने यह मत व्यक्त किया कि जिनसे भूमि वापस ले ली जाती थी, वस्तुतः उनसे वह जमीन दण्डदासता से मुक्ति के परिणामस्वरूप वापस ली जाती थी। उनकी दृष्टि में “जिस भूमि पर लम्बे अर्से से खेती की जाती रही हो, वह यदि खाली हो जाय तो (उस जनपद विशेष का) राज्य भूमि मंत्री (सीताध्यक्ष) किराये के मजदूर तथा दण्डित दास इस प्रकार अपनी सजा अथवा जुर्माने की भरपाई कर देते थे। बड़े पैमाने पर दान मजदूरों का कोई अस्तित्व नहीं था, परन्तु दण्डित दासों की निर्धारित (दण्ड) कालावधि के लिए

बेचा जा सकता था। आकर्षित भूमि अधबटाई पर भी दी जाती थी—आमतौर पर ऐसे लोगों को, जिनके पास शारीरिक श्रम के अलावा देने की और कुछ न होता था।¹¹⁷ कौसांबी के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि में दासों का नियोजन केवल दण्डदासता के स्तर पर ही सम्भव था। लेकिन उनका यह कहना असमीचीन प्रतीत होता है कि नई बस्ती के सारे किसान जिनसे करअदायगी न हो पाने के कारण भूमि वापस ले ली जाती थी, सभी के सभी दण्डदास थे। वस्तुतः शूद्र प्रधान नई बस्तियों को बसाने की बात कौटिल्य करता है न कि केवल शूद्रों अथवा केवल शूद्र दासों की उसमें बसाने की बात की गई है। इसकी प्रबल सम्भावनाएं हैं कि ऐसी बस्तियों में शूद्रों व दासों के साथ अन्य जरूरत मन्द लोग भी बसते रहे होंगे और वे कृषि कार्य को अपवाद स्वरूप न करते रहे होंगे।

आर०एस० शर्मा ने अपने मानक ऐतिहासिक ग्रन्थ में मौर्यकालीन शूद्र कृषकों को प्रायः दास ही माना है और उन्होंने सभी दासों को शूद्रों की कोटि में खड़ा करके उनके श्रम के राजकीय संदोहन का दृश्य उपस्थित किया है।¹¹⁸ उनकी दृष्टि में दासों एवं कर्मकरों का वर्ग हमेशा बेगार करने का भागी समझा जाता था। मौर्यकालीन कृषि में दासों को बड़े पैमाने पर नियोजित किया जाता था। इस प्रकार उनकी दृष्टि में मौर्य साम्राज्य दासों, कर्मकारों, शिल्पियों और आदिवासियों का, जो कि स्पष्टतया शूद्र वर्ग के थे, बहुत बड़ा नियोजक था। इस दृष्टि से इस काल का कृषि उत्पादन संगठन ग्रीस और रोम के संगठन

से कुछ हद तक मिलता है। तभी तो उन्होंने पाँचवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के यूरोपीय समाज को सामन्ती समाज कहकर उसके राजनीतिक तथा प्रशासनिक ढांचे को भूमिदानों पर आधारित तथा असली आर्थिक ढांचे को कृषि दासत्व पर आधारित बताया¹¹⁹ और इसी ढांचे की उन्होंने भारतीय सन्दर्भ में भी आरोपित करने का प्रयास किया। इसको स्वयं उन्होंने स्वीकार भी किया है।¹²⁰

इस प्रकार यह बिल्कुल साफ दिखाई पड़ता है कि इन भारतीय इतिहासकारों ने मौर्यकालीन राजकीय नियंत्रण एवं दासता के विवरणों के आधार पर दासतामूलक अर्थव्यवस्था के विश्वस्तरीय सामान्य ढांचे के उस प्रधान लक्षण को ढूँढने का प्रयास किया है जिसमें दासता एवं संस्था के रूप में विकसित होकर अतिरिक्त उत्पादन के संसाधन जुटाती है और दास अपने मालिक की सम्पत्ति होता है जिसे जब और जिस रूप में मालिक चाहे, उपभोग कर सकता है। लेकिन यदि इन परिकल्पनाओं को गहन समीक्षा की जाय तो वास्तविक धरातल पर इसका निर्णय ही दिखायी देता है। मौर्यकालीन समाज में दासों को सम्पत्ति के रूप में चित्रित करने वाले ऐसे इतिहासकारों ने अर्थशास्त्र के विवरणों के साथ मनमाना दृष्टिकोण अपनाया है। यदि कौटिल्य दासता से मुक्ति की बात करके एक उदार दृष्टिकोण का परिचय देता है तो इन इतिहासों को वह केवल उच्चवर्गीय दासों के ही सम्बन्ध में लागू होता हुआ नजर आता है। यदि वह उन्हें मासिक वेतन वार्षिक प्रोत्साहन देने तथा सैनिकों

एवं गुप्तचरों के रूप में चित्रित करता है तो इनको उसमें शिल्पियों की विद्यमानता नजर आती है। यदि कौटिल्य ने खानों में राजद्रोहियों को कार्य पर लगा देने की बात उठायी है¹²¹ तो ऐसे चिन्तकों की केवल दासों एवं कर्मकरों से ऐसे कराने का विधान ही परिलक्षित होता है¹²² यहीं नहीं जब कौटिल्य दास मुक्ति¹²³ की बात करता है तो इन्हें वह केवल मालिक की इच्छा पर निर्भर¹²⁴ दिखाई देता है। शर्मा के शब्दों में यह कहना कठिन है कि क्रय मूल्य चुका कर मुक्ति पाने का नियम आर्येत्तर दासों पर उसी रूप में लागू था, जिस रूप में वह आर्य दासों पर था। प्रायः मूल्य चुका देने पर भी शूद्र दासों का मुक्त किया जाना उनके मालिक की इच्छा पर निर्भर था किन्तु कभी-कभी उन लोगों को भी मुक्ति मिल जाती थी।¹²⁵ जबकि कोसांबी की दास मुक्ति की व्यवस्था उनकी दण्ड दासता से मुक्ति के रूप में दिखाई पड़ती है।¹²⁶

कौटिल्य अर्थशास्त्र में प्राप्त होने वाले दासों के व्यापार का निषेध अप्रत्यक्ष रूप से स्थायी दासता के पाश्चात्य आदर्शों के विपरीत जाता है इसलिए उन समाजों की दासतामूलक समाजार्थिक संरचना की परिकल्पनाएं भारतीय सन्दर्भों में लागू नहीं की जा सकती। जैसा कि दासतामूलक अर्थव्यवस्था के ढांचे में यह दिखाया गया है कि इसमें दासों के एक वस्तु के रूप में बाजार में बेचा जा सकता है और उसमें होने वाली आय को पुनर्विनियोजित करके अधिक लाभ कमाया जाता है, ऐसा कोई विवरण अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में नहीं मिलता जिससे यह बात प्रमाणित हो सके जबकि

अतिरिक्त उत्पादन प्रक्रिया के रूप में दासतामूलक अर्थव्यवस्था का यह एक आवश्यक पहलू होता है। कौटिल्य तो दासों की बिक्री का घोर विरोध करता है।¹²⁷ फिर भी कुछ विद्वानों को यह केवल आर्य दासों पर ही लागू होता हुआ दिखाई पड़ता है। इनके मत में कौटिल्य के उदार नियम अधिकांशतया आहितकों और भूतपूर्व आर्य दासों पर लागू थे, जिसकी संख्या निश्चय ही कम रही होगी।

वस्तुतः कौटिल्य ने दासमुक्ति के इतने उदार नियम बनाए हैं जिनसे स्थायी दासता की तो बात ही नहीं की जा सकती। कौटिल्य कहता है कि यदि मालिक अपनी दासी से कोई संतान उत्पन्न करता है तो दासी एवं सन्तान दोनों की मुक्ति मिल जायेगी।¹²⁸ यहां तक कि यदि ऐसी कोई दासी अपने भरण-पोषण के लिए दासत्व में ही पड़ी रहना चाहती है तो उसके भाई, बहन और माँ को मुक्त कर दिया जायेगा।¹²⁹ समुचित मूल्य प्राप्त कर लेने पर भी यदि कोई दास मुक्त नहीं किया गया तो राज्य उस दास मालिक पर 12 पणों का जुर्माना कर देगा।¹³⁰ कौटिल्य ने साफ तौर पर कह दिया है कि यदि किसी दास-दासी को एक बार मुक्त कर दिया गया हो तो दुबारा उसे बंधक बनाया जाय अथवा बेंचने का उपक्रम किया जाय तो राज्य की तरफ से उसे दण्डित किया जायेगा।¹³¹ इस प्रकार यह विवरण अतिरिक्त उत्पादन की पाश्चात्य दासतामूलक अवधारणा से मेल नहीं खाता और न इसे उस अवधारणा के ढांचे में ढूंसा जा सकता है। कुछ इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त

किया कि कलिंग युद्ध में लगभग 150000 लोग बन्दी बनाए गये थे। यह तो असम्भाव्य लगता है कि सबके सब दास बना लिए गये होंगे लेकिन इसका कुछ प्रतिव्रत तो दासों के रूप में विनियोजित किया होगा और अधिकांश को कृषि योग्य बनाई जाने वाली भूमि पर बसने के लिए भेज दिया जाता रहा होगा।¹³² यह कथन दो दृष्टियों से आधारहीन प्रतीत होता है। एक तो यह कि यदि मौर्यकालीन समाज की उस तथाकथित दासतामूलक अवधारणा पर विश्वास किया जाय, जिसकी परिपुष्टि हेतु कलिंग युद्ध का यह साक्ष्य प्रस्तुत किया गया है, तो यह मानना पड़ेगा कि इन 150000 युद्ध बन्दियों में अधिकांशतः शूद्र लोग ही थे। दूसरे यह कि कौटिल्य तो युद्धबन्दियों को मुक्त करने का विधान भी प्रस्तुत करता है। जिसकी इस कथन की व्याख्या में पूर्ण अवहेलना कर दी गयी है। युद्धबन्दियों का यदि इस तरह नियोजन मान भी जिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि दासों के रूप में विनियोजित प्रतिशत वर्णक्रम के अनुसार निर्धारित होता रहा होगा क्योंकि युद्धबन्दियों में सभी वर्ग के लोग रहे होंगे। यह एक ऐसा कथन है जो उनकी उन पूर्ण मान्यताओं से निःसृत प्रतीत होता है जिनके अनुसार भारत में भी बड़े-बड़े कृषि फार्मों पर गुलामों का नियोजन प्रदर्शित करना आवश्यक था।

उपर्युक्त विश्लेषणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना किसी भी तरह दासतामूलक अर्थव्यवस्था के विशिष्ट लक्षणों से युक्त नहीं थी। संभवतः इसी विसंगति के पूर्वाभास के कारण

कार्लमार्क्स और विटर्फी गेल ने भारतीय दासता को एशियाई उत्पादन पद्धति के अन्तर्गत रखा। वस्तुतः दासतामूलक समाज के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों की कसौटी पर भारतीय दासता के उपर्युक्त विवरण किसी भी रूप में खरे नहीं उतरते इसलिए शायद इन विचारकों को ऐसा प्रतीत होता है कि इसे उक्त व्यवस्था का अपवाद मानकर गतिहीन समाजों की कोटि में खड़ा करना चाहिए। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि दासतामूलक समाज की अपेक्षाओं की कसौटी पर खरी न उतरने के कारण प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप से मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति अथवा विटर्फी गेल के 'द्रवचालित समाज' की मान्यताओं के अनुरूप अवधारित की जानी चाहिए। यदि हम मार्क्स और विटर्फी गेल द्वारा प्रस्तुत इन योजनाओं को भारतीय सन्दर्भों में पहले से ही विद्यमान मान लेंगे तो इसके बाद पूर्वकालीन भारतीय दासता के बारे में निकाला गया कोई भी निष्कर्ष पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हो सकता।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत एशियाई उत्पादन पद्धति पर विस्तार से कार्य करने वाले विद्वानों में बैरी हिन्डेस तथा डैनियल थाने¹³³ का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने किसी भी अर्थव्यवस्था की विशिष्ट लक्षणों से युक्त मानने पर ही उसे एशियाई उत्पादन पद्धति की कोटि में रखने की बात की है।

इसके लिए शुल्क/कर व्यवस्था की प्रमुख आधार बनाया क्योंकि दास श्रम को व्यापक पैमाने पर न लगाने के कारण राज्य की समृद्धि के लिए अधिकाधिक कर वसूली ही एक ऐसा माध्यम है जिसके आधार पर मजबूत

राज्य का ढांचा खड़ा किया जा सकता है। मार्क्स ने कर को विभेदी कर अथवा विशिष्ट कर एवं निरपेक्ष अथवा अबाधित कर नामक दो कोटियों में विभक्त किया है। प्रथम प्रकार का पूंजीवादी उत्पादन से सम्भव है। यह वहाँ भी सम्भव है जहाँ व्यक्तिगत भूस्वामित्व बिल्कुल ही न विद्यमान हो और व्यक्तिगत भूस्वामित्व की स्थिति में इसका समायोजन भू स्वामी द्वारा होता है। जब व्यक्तिगत भूस्वामित्व समाप्त हो जाता है तो यह राज्य के पास चला जाता है।

निरपेक्ष कर व्यक्तिगत भू स्वामित्व की प्रथा में सम्भव होता है। इस प्रकार का कर स्वयं में कीमतों पर एकाधिकार कायम करने का तत्व संजाये रहता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के शुल्कों में अन्तर यह है कि पहला शुल्क कृषि उत्पादों की कीमतों को प्रभावित नहीं करता जबकि दूसरे प्रकार का शुल्क ऐसा करता है। इस प्रकार अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति में आये बगैर उसके उत्पादनों पर आवश्यक करारोपण करके राज्य के एकाधिकार की पुष्टि हो जाती है। इसमें श्रमिकों को उत्पादन के संसाधनों से अलग नहीं किया जाता। इस प्रकार मार्क्स की दृष्टि में भारतीय समाजार्थिक सन्दर्भों में यही अवस्था लागू होती हुई प्रतीत होती है।

कार्ल मार्क्स की अवधारणा है कि उपर्युक्त शुल्क प्रणाली में शोषण का स्तर, शोषकों की संख्या एवं उनकी कार्यप्रणाली राजनीतिक एवं आदर्शात्मक रूप में निर्धारित होती है और ऐसे में शोषण की कोई ऐसे शुल्क/कर वसूली

से बनती है उसमें इस अतिरिक्त उत्पादन की जो संभावना नियोक्ता चाहे तो राज्य की ओर से विलासिता के कार्यों में कर सकता है और अगर उसकी इच्छा हो तो बड़ी-बड़ी इमारतों, मन्दिरों अथवा दुर्गों के निर्माण में बेगार के रूप में उसका उपभोग कर सकता है। अतएव ऐसे वातावरण में सामाजिक श्रम तथा शक्तियों के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। इसीलिए उसने इसे ऐसे गतिहीन समाज की संज्ञा प्रदान की जिसके रंगमंच पर तो हर तरह का नाटक अभिनीत किया जाता रहता है और सामाजिक रिश्तों के अभाव में आन्तरिक हृदय गतिहीन, संवेदनाशून्य मरुस्थल की भाँति स्थायित्व ग्रहण किये हुए होता है। इसीलिए अब मार्क्स को ऐसे वातावरण में किसी वर्ग संरचना का दूर दराज तक कहीं संकेत नहीं मिला तो उसे एक गतिहीन अवस्था निर्दिष्ट करके 'एशियाई उत्पादन प्रक्रिया' का एक अपवादी सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिया कि एशिया में चूँकि कोई वर्ग संरचना नहीं हो सकती इसलिए किसी वर्ग-संघर्ष का सवाल ही नहीं पैदा होता¹³⁴ और चूँकि समस्त इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास होता है इसलिए इस संघर्ष के अभाव के कारण एशियाई देशों का राजनीतिक इतिहास के अतिरिक्त कोई इतिहास लेखन सम्भव ही नहीं है। विशिष्ट पहचान के अन्तर्गत वह चीन और भारत को रखता है।¹³⁵

विश्वजनीन उत्पादन पद्धति एवं सामाजिक सम्बन्धों पर विचार करते हुए कार्ल विटफॉगेल ने मार्क्स की उस 'एशियाई उत्पादन पद्धति' को 'पौरात्य

निरंकुशता' कहते हुए उसे 'द्रवचालित समाज' की संज्ञा से सम्बोधित किया।¹³⁶ विटफॉगेल के इस समाजार्थिक संरचनायुक्त राज्य में भी वर्ग-संरचना की कोई अवधारणा दूर-दूर तक नजर नहीं आती।¹³⁷ विटफॉगेल की मान्यता है कि सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का निश्चित ढाँचा जटिल कृषि-सिंचाई पद्धति पर राज्य के निरीक्षण एवं नियंत्रण की आवश्यकता का अनुवर्ती होता है।

विटफॉगेल की 'द्रवचालित समाज' की संकल्पना एक ऐसी निरंकुश सत्ता को जन्म देती है जिसमें राज्य एक दलीय शासन पद्धति से युक्त अथवा सर्वसत्तात्मक राज्य समाज की अन्य समस्त शक्तियों से मजबूत होता है। इस प्रकार राज्य समाज से ऊपर होता है और वह समाज को अपने हिसाब से संचालित करता है जिसके लिए वह परिवर्तनकारी, स्वतन्त्रता अथवा व्यक्तिक्रम की संभावना युक्त समस्त शक्तियों का समूल नाश कर देता है। स्पष्ट है कि विटफॉगेल की इस अवधारणा में दासों की तो कभी मुक्ति सम्भव ही नहीं थी। विटफॉगेल की इस सर्वसत्तात्मक राजकीय संरचना में धर्म तक राजकीय नियंत्रण से मुक्त नहीं रह सका। ऐसे राज्य की प्रमुख विशेषताओं में उत्पादन के समस्त आवश्यक उपादानों पर राज्य का नियंत्रण, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था, राज्य की गुप्तचरों तक के स्तर पर सुसंगठन, विशाल सेना का केन्द्रीय संचालन व केन्द्र के अतिरिक्त अन्य सैनिक छावनियों का निर्मूल नाश, बैठ-बेगार प्रथा, विस्तृत एवं विकसित कर प्रणाली तथा आर्थिक गतिविधियों

को संचालित करने वाले राज्य से परे अन्य व्यापारिक केन्द्रों का लोप इत्यादि की गणना विटफॉगेल करता है। विटफॉगेल की उपर्युक्त अवधारण को देखते हुए हिन्डेस ने कहा है कि यह सामाजिक संरचना सभी अनाधारित अवस्थिति युक्त समाज, गैर सामन्ती समाज तथा प्राक् पूंजीवादी समाजों को शामिल कर लेती है।

कार्ल मार्क्स को 'एशियाई उत्पादन पति' एवं कार्ल विटफॉगेल की 'द्रवमूलक समाज' की परिकल्पनाओं के उपर्युक्त विवरणों से उभरे हुए पाश्चात्य एवं पौरवात्य निरंकुशता के विशिष्ट सन्दर्भ में भारतीय दासों को रखकर देखने से यह विदित होता है कि भारत में ये दोनों योजनाएं किसी सीमा तक तो लागू की जा सकती हैं लेकिन कुछ दूर जाने के पश्चात् ये संकल्पनाएं निर्बल प्रतीत होने लगती हैं। कार्ल मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति पर गहन अध्ययन करने के बाद यह मत व्यक्त किया जाने लगा कि मार्क्स ने भारतीय इतिहास का अध्ययन मूल स्रोतों के आलोक में नहीं किया था। उसने केवल उस समय के इतिहासकारों के उपलब्ध किन्तु त्रूटिपूर्ण निष्कर्षों के आधार पर ही इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर दिया।¹³⁸

कोसंबी के अनुसार¹³⁹ भारतीय ऐतिहासिक विकास की प्रमुख अवस्थाएं भी मोटे तौर पर मानव के ऐतिहासिक विकास की प्रमुख अवस्थाओं जैसी ही थीं, किन्तु सारी की सारी भारतीय संस्थायें यूरोपीय संस्थाओं की कोरी नकल नहीं थी। मार्क्स ने अपनी इस योजना में किसी वर्ग संरचना के अस्तित्व से

इनकार किया है। भारतीय इतिहास के दासों के वर्ग तो मिलते हैं लेकिन वे किसी स्वायत्त संगठन का आभास नहीं देते जबकि कतिपय इतिहासकारों¹⁴⁰ को मार्क्स की अवधारणा के विपरीत वर्ग संगठन का बोध होता है। ऐसे इतिहासकार एक ओर तो मार्क्स द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त योजना का भारतीय दासता के सन्दर्भ में निषेध प्रस्तुत करते हैं और दूसरी तरफ उसके वर्ग संघर्ष को ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का आवश्यक अंग बताकर भारतीय दासों को सेविवर्ग समेत एक वर्ग मान लेते हैं उसमें वर्ग चेतना का विकास दिखाते हैं और दासों के विशेष सन्दर्भ में पूर्वमध्यकाल वर्ग चेतना के उदय के परिणामस्वरूप उनकी युक्ति अथवा दासता के ह्रास की बात करते हैं। मार्क्स द्वारा गैर एशियाई संस्कृति के लिए तैयार किये गये ढांचे को अपनाते हुए ये इतिहासकार उसकी उपर्युक्त योजना को अस्वीकार कर देते हैं जिससे कि भारतीय समाज का पूर्वकालीन ढांचा दासतामूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित सिद्ध किया जा सके। मौर्यकालीन समाजार्थिक संरचना में सीता भूमि पर दासों के नियोजन के लिए स्पष्टीकरण से यह बात बिल्कुल साफ हो जायेगी कि कतिपय इतिहासकार किस प्रकार मार्क्स द्वारा प्रस्तुत मान्यताओं से न तो अपने को अलग ही करना चाहते हैं और न उसे पूर्णतया स्वीकार ही करते हैं।

इस प्रकार इन उदाहरणों से स्वयमेव स्पष्ट है कि न तो कोसम्बी और न चानना, कोई भी, मार्क्स की उपर्युक्त एशियाई उत्पादन पद्धति को भारत में लागू करने के पक्ष में दिखायी देते हैं। आर0एस0 शर्मा भी चानना का ही

समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि जब इन इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत मौर्यकालीन समाज को दासतामूलक कारकों द्वारा संयोजित बताने का पूर्णतः खण्डन ऊपर देखा जा चुका है तो 'दासतामूलक समाज' एवं 'एशियाई उत्पादन पद्धति' दोनों ही स्थितियां पूर्वकालीन भारतीय समाज के लिए निष्प्रभावी प्रतीत होती है। यदि मार्क्स¹⁴¹ ने दासतामूलक समाज के अस्तित्व से इनकार किया तो कोसम्बी, चानना, शर्मा आदि ने एशियाई उत्पादन पद्धति की स्थिति का पूर्ण निषेध प्रस्तुत किया। इस प्रकार ये दोनों योजनाएं जहाँ तक पूर्वकालीन भारतीय सन्दर्भ का प्रश्न है, एक दूसरे को निरस्त करती है। फिर भी दासों के पूर्वकालीन उपलब्ध सन्दर्भों से इस एशियाई उत्पादन पद्धति की तुलना करना आवश्यक है।

यदि मार्क्स की उपर्युक्त पद्धति का आधार व्यक्तिगत भूस्वामित्व का न होना तथा राज्य का समस्त भूमि पर एकाधिकार होना बताया गया है तो अर्थशास्त्र के उल्लेख इसका आंशिक निषेध भी प्रस्तुत करते हैं। यदि मार्क्स की उपर्युक्त अवधारणा का एक दूसरा पहलू अतिरिक्त उत्पादन एवं उस पर राज्य के एकाधिकार से सम्बन्धित है तो कौटिलीय अर्थशास्त्र में ऐसे अतिरिक्त उत्पादन का कोई प्रमाण नहीं मिलता जो केवल दासों के श्रम से ही सम्भव हो पाया हो। यदि मार्क्स की उपर्युक्त पद्धति में राज्य ही सबसे बड़ा शोषक वर्ग होता तो अर्थशास्त्र दासों के सन्दर्भ में इसका निषेध ही नहीं प्रस्तुत करता अपितु दासों के लिए अनेक उदार नियमों तथा उनकी मुक्ति की अनेक

व्यवस्थाएं भी प्रस्तुत करता है उनके प्रति अशोक के अभिलेखों में मिलने वाली सहज सहानुभूति की बातें इसका विपर्यय प्रस्तुत कर देती है।¹⁴²

यदि मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति के अनुसार कृषि के अपवय उत्पादन उस अर्थव्यवस्था का प्रभावी कारक होता है तो मौर्यकालीन कृषि व्यापार एवं अन्य उत्पादन के क्षेत्रों में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए मौर्यकालीन समाजार्थिक सन्दर्भों में मार्क्स द्वारा प्रस्तावित 'एशियाई उत्पादन पद्धति' की योजना लागू नहीं होती। वस्तुतः भारत की वह पूर्वकालीन अवस्था एक ऐसे श्रम पर आधारित अर्थव्यवस्था की भूमिका के सभी वर्णों की भागीदारी हुआ करती थी जिसमें दासों की भूमिका एक संयोजक तत्व के रूप में तो हो सकती है लेकिन उसके आवश्यक कारक के रूप में नहीं। इस प्रकार मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति से परे पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना में दासों को अर्थव्यवस्था का प्रधान आधार नहीं माना जा सकता। अतएव दासतामूलक अर्थव्यवस्था की अवधारणा के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के अनिवार्य अंग के रूप में भारतीय दासता को नहीं देखा जा सकता तथा भारतीय दासता को मार्क्स की उपर्युक्त पद्धति का भी एक आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। उत्पादन प्रक्रिया में भारतीय दासों की भूमिका एवं आनुषंगी तत्व के रूप में ही प्राप्त होती है। अकेले दास श्रम पर आधारित राज्य की कोई परिकल्पना न तो भारतीय यथार्थ में ही मिलती है और न ही उसके अदृष्टार्थक अथवा दृष्टार्थक विधानों में ही।

कार्ल विटफॉगेल द्वारा प्रस्तुत द्रवचालित समाज में भारतीय दासों की भूमिका को भी देखना आवश्यक है। विटफॉगेल की आधारभूत मान्यताओं से मिलने वाले लक्षणों का प्रमाण मौर्यकालीन प्रशासन में कुछ सीमा तक मिलता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं होगा कि मौर्यकालीन सामाजिक संरचना को विटफॉगेल को द्रवचालित समाज की परिकल्पना के माध्यम से समझा और समझाया जा सकता है। विटफॉगेल ने पौवत्यिस निरंकुशता की अपनी अवधारणा को भारतीय इतिहास के विशिष्ट सन्दर्भ में सिद्ध करने की चेष्टा की है। पौर्वात्य निरंकुशता की उसकी यह अवधारणा पाश्चात्य संस्कृति के विकास में पाई जाने वाली निरंकुश व्यवस्थाओं से उसे पृथक करने के लिए बनाई गई है और दोनों में गुणात्मक अन्तर इस प्रकार दिखाया गया है कि पाश्चात्य निरंकुशता के गर्भ से न्यायपूर्ण निरंकुशतारहित व्यवस्थाओं का उदय तो हो सकता है किन्तु पौवत्यिस निरंकुशता से ऐसे किसी परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।¹⁴³ निरंकुशता के इस प्रकार के गुणात्मक अन्तर की अवधारणा ऐतिहासिक तथ्यों की खींचतान द्वारा चाहे जिस सीमा तक पुष्ट की जाय इसके पीछे पाश्चात्य संस्कृति की उत्कृष्टता को किसी न किसी प्रकार की भावना इसके पीछे से झांकती हुई प्रतीत होती है। जहाँ तक भारत के विशिष्ट सन्दर्भ में पौवत्यिस निरंकुशता की अवधारणा की उपस्थिति का प्रश्न है उसकी संभावना केवल पूर्वाग्रहग्रस्त सतही साम्य तक ही सीमित है। प्राचीन भारत में दासों की स्थिति प्राचीन पाश्चात्य सभ्यता के दासों

की स्थिति से कहीं बेहतर थी। पाश्चात्य सभ्यता के दास निरंकुश तथा गणतन्त्रीय दोनों ही अवस्थाओं में न केवल शोषण के शिकार थे बल्कि स्वतन्त्र मनुष्यों के रूप में उनके अस्तित्व की मान्यता तक नहीं थी। किन्तु तथाकथित पौवत्य निरंकुशता वाले भारत में दासों को ऐसे वैधानिक अधिकार भी प्राप्त थे जिन्हें न्यायालयीय न्याय के माध्यम से लागू करवाया जा सकता था।

विटफॉगेल ने बेगार प्रथा को ऐसे समाजों का एक आवश्यक अंग बताया है जिससे अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति सम्भव होती है। भारतीय सभ्यता में श्रम के विनियोजन के पूर्वकालीन सन्दर्भों में बेगार प्रथा का संकेत नहीं मिलता। यद्यपि कतिपय इतिहासकारों को अर्थशास्त्र में 'विष्टि' के प्रयोग बेगार प्रथा के प्रमाण होते हैं¹⁴⁴ जबकि अर्थशास्त्र में वर्णित 'विष्टि' के सम्बन्ध में इतिहासकारों में काफी मतभेद की स्थिति भी दिखाई पड़ती है। यह शब्द अर्थशास्त्र के विवरणों में प्रायः राज्य के आय के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में ही आया है। अर्थशास्त्र में यह शब्द राजस्व के रूप में श्रम की विभिन्न कोटियों के रूप में¹⁴⁶ राजकीय उद्योग एवं कृषि क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में¹⁴⁷ प्रयुक्त हुआ दिखाया गया है। किन्तु अर्थशास्त्र के एक उल्लेख में कहा गया है कि राजा दण्ड, विष्टि और कर की बाधाओं से प्रताड़ित कृषि की रक्षा करें।¹⁴⁸ इस उल्लेख का अर्थ है कि दण्ड, विष्टि और कर के अतिरिक्त और अनियमित आरोपण से कृषि के क्षेत्र में जो व्यवधान उत्पन्न होता है राजा उससे कृषि की रक्षा करें।¹⁴⁹ अर्थात् यह ध्यान रखें कि दण्ड, विष्टि और कर की सख्त और

निर्मम वसूली के कारण सामान्य किसान की खेती में काम-काज ठप न हो जाय। इस उल्लेख से विष्टि भी दण्ड और कर की भाँति राजस्व का एक नियमित प्रकार प्रतीत होती है और उसके सम्बन्ध में बरती जाने वाली या बरती जा सकने वाली समस्त अनियमिताएँ राजा द्वारा रक्षणीय थी। कौटिल्य ने लिखा है कि समहर्ता को चाहिए कि वह हिरण्य, धान्य, कुत्य और विष्टि आदि का विस्तृत लेखा-जोखा तैयार करे। इससे भी विष्टि की राजस्व के रूप में इसका निषेध ही मिलता है। कभी-कभी दासों, शूद्रों एवं कर्मकरों से सीमित बेगार भी लिया जाता था लेकिन इससे इस प्रथा को नियमित विष्टि मान लेना उचित न होगा। कौटिल्य द्वारा व्यय शरीर के अन्तर्गत विष्टि का उल्लेख विष्टि पर होने वाले राजकीय व्यय की अभिसूचना देता है और डी०सी० सरकार के इस मत को मजबूती प्रदान करता है कि अर्थशास्त्र में विष्टि पूर्णरूपेण भुगतान रहित नहीं थी।¹⁵⁰ विष्टि के नियमित स्वरूप को उपर्युक्त विवेचना और उसके अनियमित और मनमानी उपयोगों के ऊपर राज्य का अंकुश विटफॉगेल की पूर्ववर्णित मान्यताओं की पूरी तरह ध्वस्त करता हुआ यदि एक ओर इस योजना के अनौचित्य को सिद्ध करता है तो दूसरी ओर यह भी पुष्ट करता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में विष्टि का सामान्य अर्थ राजस्व का एक नियमित प्रकार ही था, अनियमित बेगार के रूप में इसका प्रचलन अथवा स्वरूप है। इस प्रकार विटफॉगेल की द्रव चालित समाज की संकल्पना में बेगार प्रथा की अनिवार्यता का भारतीय अर्थव्यवस्था में दासों के श्रम को बेगार के रूप में

उसके संदोहन का पूर्ण निषेध प्रस्तुत करते हुए कौटिल्य दासता की अर्थव्यवस्था के एक आनुषंगी तत्व के रूप में ही देखता है। मानव सभ्यता के इतिहास में निरंकुशता वस्तुतः राजनीतिक व्यवस्थाओं के विकास की एक आवश्यक अवस्था है जिसके सामाजिक आयाम भी होते हैं। पौवत्य एवं पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं में निरंकुश व्यवस्थाएं पाई जाती है और प्रत्येक सामाजार्थिक आयाम भी पाये जाते हैं। पाश्चात्य निरंकुशता से निरंकुशताविहीन स्वतन्त्र व्यवस्थाओं का उदय इसलिए हो सका क्योंकि निरंकुशता का विकास उस सन्दर्भ में अपना चरमोत्कर्ष प्राप्त कर सका था और उसके निरस्तीकरण की प्रक्रिया में निरंकुशता रहित स्वतंत्र व्यवस्थाओं का उदय हुआ। भारत के विशिष्ट सन्दर्भ में तथा कथित पौर्वात्य निरंकुशता के ढांचे में ही चूँकि स्वतन्त्र व्यवस्थाओं के तत्व भी शामिल थे इसलिए उसके क्रान्तिकारी विलोम के रूप में स्वतन्त्र व्यवस्थाओं का उदय न हो सका।

इस सन्दर्भ में जो अवधारणा उभरकर सामने आती है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज का पूर्वकालीन ढांचा दासों का उत्पादन व्यवस्था में नियोजित करने का प्रमाण नहीं प्रस्तुत करता अपितु दासों के प्रति अनेक उदार नियमों को ही विधान प्रस्तुत करता है। ऐसी दशा में उनके इस सीमा तक शोषण का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता जिससे कि अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति संभव हो सके। जब दास जैसे निरीह प्राणी के अधिकतम शोषण की व्यवस्था के रूप में भारतीय उत्पादन पद्धति को विकसित

नहीं किया जा सकता तो भारतीय सभ्यता के विकास की एक कड़ी के रूप में आने वाली निरंकुशता को, निरंकुशता की निकृष्टतम कोटि, पौवत्ति निरंकुशता के अन्तर्गत कैसे निरंकुश के विपरीत पौवत्ति निरंकुशता की भिन्न और निकृष्टतर कोटि की स्थापित करने की एक भिन्न योजना है इसलिए यही बात उस पर लागू होती है। प्राचीन भारतीय राज्य का आर्थिक संगठन मौर्य युग को छोड़कर वस्तुतः इतना ढीला-ढाला और अपर्याप्त था कि वह अपने समस्त उपलब्ध संसाधनों का पूर्णरूपेण शोषण भी नहीं कर पाता था। इसीलिए उसके तत्वाधान में वैयक्तिक अथवा छोटे-मोटे तन्त्रीय स्तरों पर निरंकुशता तो सम्भव थी लेकिन निरंकुशता का कोई सुसंगठित राज्य अथवा समाजव्यापी ढांचा नहीं तैयार हो सकता था। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित बहुलवाद इस संस्कृति में ऐतिहासिक रूप से विकसित होने वाली अर्थव्यवस्था का भी प्रधान लक्षण था और इसके चलते किसी भी राज्य स्तरीय सुसंगठित शोषण प्रक्रिया का स्थायी रूप से उदय नहीं हो सकता था। यदि पाश्चात्य सभ्यताओं की तुलना में भारतीय सभ्यता की इसलिए गतिहीन बता दिया जाय कि यहाँ स्थिरता अथवा जड़ता पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत अधिक दिखायी पड़ती है तो इस प्रकार के कथन निरपेक्ष नहीं माने जा सकते क्योंकि पाश्चात्य देशों की तुलना में यहाँ परम्पराओं का बोझ इतना अधिक था कि भारतीय सभ्यता में उच्छृंखलता का तत्व समाविष्ट हो ही नहीं सकता बल्कि उसमें गम्भीरता ही आयेगी। परम्पराओं के बोझ से बोझिल यह भारतीय सभ्यता पाश्चात्य

सभ्यताओं की कछुआ-हिरण दौड़ में तो कुछ समय के लिए पीछे छूटती हुयी दिखाई पड़ती है लेकिन अन्ततः जीत इसी सभ्यता की होती है। भारतीय सभ्यता की गम्भीरतायुक्त धीमी चाल को स्थैतिक समाज की संज्ञा प्रदान करना, इस प्रकार, पाश्चात्य पूर्वाग्रहों के जबरन आरोपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना में न तो दासतामूलक समाज की अवधारणा लागू हो सकती है और न कार्ल मार्क्स तथा कार्ल विटफॉगेल की क्रमशः एशियाई उत्पादन पद्धति तथा 'द्रवचालित समाज' की संकल्पनाएं ही। इन सभी योजनाओं से परे उसकी अपनी एक अलग ही अवधारणा दिखाई पड़ती है जिसमें भारतीय दासता यहाँ की समाजार्थिक संरचना में आनुषंगिक तत्व के रूप में विद्यमान थी तथा दासता किसी वर्ण विशेष के लिए नहीं थी बल्कि समाज के समस्त वर्णों के परिस्थितिजन्य विवशताओं से घिरे हुए लोगों के लिए जीवन यापन का यह एक विकल्प मात्र थी, किसी राज्य अथवा समाज का संयोजक तत्व नहीं।

आगे चलकर गुप्तोत्तर काल में सामंतवादी अर्थव्यवस्था का विकास होता है। सामन्तवाद पर आर०एस० शर्मा, डी०डी० कोसम्बी, निहारंजन रेड्डी डी०सी० सरकार, बी०एन०एस० यादव, ओमप्रकाश, हरबंश मुखिया एवं डी०एस० झा जैसे अनेक सज्जग इतिहासकारों ने काफी विस्तार से कार्य किया है। इस इतिहासकारों में से कुछ तो भारत में योरोपीय सामन्तवाद की तर्ज पर भारतीय समाजार्थिक संरचना के पूर्वमध्यकाल की सामन्ती समाज की संज्ञा देते हैं और

कुछ इतिहासकार भारत में सामन्तवाद के किसी भी अस्तित्व को नकारते हुए दिखाई देते हैं। ओमप्रकाश जैसे कतिपय विद्वानों ने दोनों स्थितियों का निष्पक्ष आकलन करते हुए भारत के वास्तविक समाजार्थिक परिवेश को उभारने का प्रयास किया है। अपने इन प्रयासों में उन्होंने बड़े साफ तरीके से भारतीय सामन्तवाद की 5 विभिन्न दृष्टियों की उजागर किया जिनका सभी का निष्कर्ष लगभग समान है। उन निष्कर्षों का भारतीय दास प्रथा के इतिहास से बहुत गहरा सम्बन्ध है जिसका खुलासा मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पाश्चात्य सामन्ती ढांचे की विशिष्टताओं को जानने के बाद ही किया जा सकता है। मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास की अपनी सुप्रतिष्ठित योजनानुसार यह मान्यता प्रस्तुत की कि समस्त इतिहास वर्ग का इतिहास होता है और विकास की इन अवस्थाओं में प्रत्येक समाज को आदिम समाज, पशुचारी समाज, दासतामूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज, सामन्ती समाज तथा पूंजीवादी समाज के क्रमिक संस्तरों से गुजरना पड़ेगा। पूंजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त हो जाने पर ही समतामूलक समाज की स्थापना सम्भव हो पायेगी। इस प्रकार दासों के विशिष्ट सन्दर्भ में मार्क्स ने यह मत व्यक्त किया कि दासतामूलक समाज के पतन के बाद निश्चित रूप से सामन्ती समाज का अस्तित्व आयेगा। सामन्ती समाज के ढांचे की उसने दास समाज के ध्वंशावशेषों पर निर्मित बताया। इस प्रकार सामन्ती समाज के पहले दासतामूलक समाज तथा सामन्ती अर्थव्यवस्था के पहले दासतामूलक अर्थव्यवस्था की अनिवार्यता को प्रमाणित किया गया। योरोपीय

सन्दर्भ इसका समर्थन करते हुये समाजार्थिक संरचना के एक ऐसे स्वरूप का परिचय देते हैं जिसमें मार्क्स को उपर्युक्त अवधारणा सही प्रतीत होती है।

मार्क्स की उपर्युक्त अवधारणा को आधार बनाकर कतिपय इतिहासकारों ने भारतीय समाजार्थिक संरचना को योरोपीय परिवर्तनों के साथ संयुक्त कर दिया। अर्थात् जब-जब योरोप में जैसी संरचना मिलती है वैसी ही भारतीय उपमहाद्वीप में भी ढूँढी जाने लगी। ऐसे में पूर्वमध्यकालीन पाश्चात्य जगत में यदि सामन्ती अर्थव्यवस्था का दृश्य समुपस्थित होता है, जो दासतामूलक ढांचे के ध्वस्त होने के बाद स्थापित हुआ था तो भारत में भी मौर्यकालीन युग की दासतामूलक समाज घोषित करते हुए भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल की सामान्ती युग कहा जाने लगा।

प्रायः पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में सामन्ती प्रवृत्तियों के योरोपीय लक्षणों को खोजने वाले इतिहासकार दासों को इसका एक प्रमुख आधार बनाते हैं। योरोपीय इतिहास के इस काल में दासों के बदले कृषिदासों के नियोजन से कृषि करायी जाती थी और व्यक्तिगत भू-स्वामित्व के इस युग में छोटे-छोटे भूखण्डों पर इन्हीं कृषिदासों से खेती करायी जाती थी। इस कृषिदासों के श्रम विनियोजन से अतिरिक्त उत्पादन सम्भव होता था, इसलिये जमीन से इनकी सम्बद्धता भी आवश्यक थी। अर्थात् पूर्वकाल में जो कृषि कार्य दास करते थे वहीं अब कृषिदास अथवा अर्द्धदास करने लगे। अर्द्धदास की

स्थिति तब उत्पन्न हुई जब दासों को बड़े पैमाने पर मुक्त कर दिया जाने लगा और कृषि में श्रमिकों का संकट नजर आने लगा।

सामन्ती अर्थव्यवस्था मार्क्स और बैरी हिन्डेस दोनों की अवधारणाओं में अतिरिक्त उत्पादन का भार ऐसे श्रमिकों पर डाला गया है जावे दासों की स्थिति से तो ऊपर होते हैं लेकिन स्वतन्त्र श्रमिकों की अवस्था के नीचे अर्थात् ऐसे युग में बेगार प्रथा एवं अर्द्धदासता दोनों की स्थिति दिखायी पड़नी चाहिए। यसह दासतामूलक समाज का उत्तरवर्ती स्वरूप होता है।

इन विश्लेषणों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि जब भारतीय इतिहास के पूर्वयुग में दासतामूलक अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आयी ही नहीं तो उस खड़े किये गये सामन्ती अर्थव्यवस्था के ढाँचे का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। जहाँ तक दासों को मुक्त करके अथवा उन्हें अर्द्धदास की स्थिति में पहुँचाकर उनसे अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह देखना परमावश्यक है कि क्या भारतीय दासों के मुक्ति की जो सैद्धान्तिक योजनाएं प्रस्तुत की गयी है वे यथार्थ जीवन में घटित होती भी थी अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में कतिपय इतिहासकारों की मान्यता है कि दास वर्ग के गठन के कारण दासों के विद्रोह को संभावनाएं प्रबल हो उठी थी। ऐसी स्थिति में बहुत दिनों तक दासों का शोषण सम्भव नहीं था इसलिए उन्हें मुक्ति देनी पड़ी। लेकिन दास वर्ग के ऊपर विस्तार से चर्चा के बाद अब इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह निष्कर्ष अथवा संभावना उचित नहीं है। जहाँ तक दासों की

मुक्ति का प्रश्न है इसकी व्यवस्था तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही मिलने लगती है। अतः यदि दासमुक्ति के प्रावधानों की सैद्धान्तिक उद्घोषणाओं से ही उनकी वास्तविक मुक्ति की कल्पना साकार कर ली जाती थी तो कौटिल्य के काल में दास आधारित अर्थव्यवस्था इन्हीं के तर्कों से नकारी जाती हुई प्रतीत होने लगती है।

पूर्वमध्यकालीन स्मृतियों में अदृष्टार्थक विधानों को पूर्व परम्परा को पुष्ट करते हुए दासों के मुक्ति की बातें की गई प्रतीत होती हैं। वस्तुतः पूर्वमध्यकाल के विशिष्ट सन्दर्भ में यथार्थ जीवन की कोई भी सैद्धान्तिक व्यवस्था उन्हें मुक्ति दिला ही देती थी यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं का पालन ऐच्छिक था, अनिवार्य नहीं। इसके अतिरिक्त घरेलू तथा इतर-घरेलू कार्यों में इनकी आवश्यकता का इतना प्रबल बोध धार्मिक उपेक्षाओं पर भारी पड़ रहा होगा। दास मुक्ति किसी भी मालिक के लिए किसी भी दशा में लाभप्रद न रही होगी इसलिए सिद्धान्ततः तो उन्हें मुक्त करने की व्यवस्थाएं दी जाती रहीं किन्तु राजनीतिक बिखराव से ग्रस्त राज्यों की दाण्डिक शक्ति की प्रखरता के ह्रास के कारण उन्हें मुक्त न करने पर राज्य की ओर से किसी दण्ड का भय इन दास मालिकों को न रहा होगा। इसीलिए पूर्वमध्यकालीन दासता घटने के बजाय बढ़ रही थी और इनकी स्थिति में यदि कहीं-कहीं सुधार दिखाई पड़ता है तो कहीं पर इनके द्वारा घोर यातनाओं में जिन्दगी

बिताने के संकेत मिलते हैं लेखपद्धति सहित पूर्वमध्यकाल अनेक साहित्यिक ग्रन्थ इसका साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं।¹⁵¹

पिछले अध्याय में दासों के कार्यों की अवधारणा के सन्दर्भ में हमें अनेक ऐसे दासों के प्रमाण भी उपलब्ध हुए जिन्हें कृषि में तो लगाया ही जाता था, दासियों तक को हल चलाते हुए दिखाया गया है। अतएव यह कहना कि मौर्यकाल में तो दासों को कृषि कार्य में लगाया जाता था लेकिन पूर्व मध्यकाल इसका निषेध प्रस्तुत करता है उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्वमध्यकाल में आकर दासों की कतिपय वैधानिक अधिकारों एवं साम्पत्तिक अधिकारों से भी मुक्त कर दिया गया। मनु पर भाष्य लिखते हुए मेधातिथि का कथन है कि दासों का अपनी सम्पत्ति पर मालिकाना अधिकार होता था।¹⁵² इसी तरह याज्ञवल्क्य पर भाष्य लिखते हुए मिताक्षरा का कथन है कि दासों से अनैतिक सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न दासीपुत्र को उसके वास्तविक पिता की सम्पत्ति में हिस्सा मिलना चाहिए यदि पिता ऐसी इच्छा रखे तो। पिता की मृत्यु के बाद उसके भाईयों द्वारा उसे हिस्सेदार बनाकर आधी सम्पत्ति देनी चाहिए।

यदि उसके कोई भाई या बहिन अथवा नाती-पाते नहीं हो तो सारी सम्पत्ति उसी दास की हो जायेगी। अग्निपुराण इसका समर्थन करता है। अतएव यह प्रमाणित होता है कि यदि पूर्वकालीन व्यवस्था में कौटिल्य उन्हें सम्पत्ति रखने का अधिकार देता है, तो पूर्वमध्यकालीन व्यवस्थाओं में भी ये घटनाएँ उसी दृष्टि से (दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक) अपवाद स्वरूप नहीं प्रतीत

होती। कतिपय दक्षिण भारतीय अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। बेलुर तालुक से प्राप्त एक लेख में यह स्पष्टतयाव उल्लिखितम है कि यदि किसी व्यक्ति का कोई भी प्राधिकारी न हो तो उसकी भूमि और सम्पत्ति दासी के बच्चे को दी जा सकती है। 1165 ई० का एक अन्य अभिलेख दासियों के अक्षय कोश की चर्चा करता है। 1200 ई० का दूसरा लेख ऐसा हो मिलता जुलता विवरण प्रस्तुत करता है। 1343 ई० का अन्य शिलालेख दासी एवं उसके बच्चे को परिवार के अन्य सदस्यों की भांति सम्पत्ति में अधिकारी होने की बात करता है।¹⁵³

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि पूर्वमध्यकाल में दासों की एक कोटि अत्यन्त दयनीय दशा में दिखाई पड़ती है तो दूसरी कोटि में ऐसे अधिकार सम्पन्न दास भी मिलते हैं। इस प्रकार उनके नियोजन द्वारा अतिरिक्त उत्पादन से लेकर व्यक्तिगत कार्यों में उनकी नियुक्ति को देखते हुए कौटिलीय परम्परा के ही विस्तार का पक्ष मजबूत होता दिखाई पड़ता है। जहाँ तक दासों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रश्न है, निश्चित रूप से इससे तत्कालीन राजकीय आय में वृद्धि होती रही होगी। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का दास के आयात निर्यात करने वाले एक देश के रूप में देखा जा सकता है।¹⁵⁴

अधीतकाल में युद्धों की बहुलता के कारण युद्धबन्धियों की अधिकता दासों का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार, कृषि में नियोजन, साम्पत्तिक तथा वैधानिक अधिकारों से दासों की संयुक्त करना आदि विवरण यदि दासता के

स्थायित्व का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं तो उनकी दयनीय स्थिति उन्हें दासता के दूसरे पहलू से भी भरपूर परिचित कराती है जिसमें फिनले की उस अवधारणा का बोध होता है कि दासों के लिए परतन्त्रता उनके जीवन के साथ बंधी होती है। साथ ही इस पूर्वमध्यकालीन सामन्ती अर्थव्यवस्था को नकारते हुए यदि दासवों की दोनों कोटियों में किसी विभाजक रेखा को खींचने का प्रयास किया जाय तो भी वह भी उनकी चरमावस्था में ही सम्भव है। फिनले को 'स्पेक्ट्रम' की अवधारणा¹⁵⁵ में दासता का विवेचन इसे बखूबी सुलझा देता है कि दासता और स्वतन्त्रता के बीच कोई विभाजक रेखा इसलिए नहीं खींची जा सकती क्योंकि स्पेक्ट्रम के विभिन्न रंगों की तरह उनकी चरम अवस्थाओं पर ही ऐसी स्थितियाँ उभरती रही होंगी। अतएव यह कहना कि पूर्वमध्यकाल भारत में दासता अपनी मुक्ति विधानों की सैद्धान्तिक योजना के परिणामस्वरूप ह्रासोन्मुखी हो चली थी, उचित नहीं प्रतीत होता। दासतामूलक समाजार्थिक परिवेश की पूर्व पीठिका के बिना तो सिद्धान्ततः सामान्तवादी अर्थव्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः सैद्धान्तिक अनिवार्यता के रूप में पूर्व मध्यकालीन समाजार्थिक संरचना में दासता का ह्रास भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उत्पादन प्रक्रिया में पूर्वकालीन और पूर्वमध्यकालीन भारतीय यथार्थ में किसी ऐसी व्यवस्था के लिए अवकाश नहीं है जिस पर पूर्णतया दासतामूलक और सामन्ती उत्पादित प्रक्रियाओं की तकनीकी परिभाषा आरोपित की जा सके। इस काल की भारतीय उत्पादन

प्रक्रियाएं मार्क्स की एशियाई उत्पादन प्रक्रिया और विटफॉगेल के पौर्वात्य निरंकुशता के सिद्धान्तों से भी मेल नहीं खाती। भारतीय उत्पादन प्रक्रिया में अपनी निराली योजना में, जो इन सैद्धान्तिक योजनाओं से भिन्न है, दास श्रम की आनुषंगिक भूमिका की एक प्रबल तत्व के रूप में उभरती है। प्राचीन और पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में दासों की इस आनुषंगिकता की ऐसे सेवि वर्ग की परिकल्पना द्वारा दास जिसके एक आवश्यक अंग हों, न तो समाप्त किया जा सकता है और न उसे दासतामूलक अर्थव्यवस्था का तकनीकी अर्थों में दासवर्ग ही बनाया जा सकता है।

देवदासियों की आर्थिक स्थिति

उत्तर वैदिक काल से भारत में स्त्रियों को चल सम्पत्ति माना जाता रहा है। वह दक्षिणा सूची में मवेशी, घोड़ों, रथों आदि के साथ शामिल थी। फिर भी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध एवम् सम्पन्न ऐसी बहुत सारी देवदासियों के उदाहरण हम देखते हैं जैसे आम्रपाली ने भगवान बुद्ध एवम् उनके हजारों शिष्यों को भोज कराया था। यहाँ तक कि उसने अपनी आम्रवाटिका भी भगवान बुद्ध को दान में दे दिया था। आम्रपाली बाद में भिक्षुणी बन गयी थी।

थंजावुर के मुख्य मंदिर में चार सौ तालाचेरीप्पेण्डुगल (देवदासियाँ) की नियुक्ति हुई थी। मंदिर के इर्द गिर्द चार मोहल्लों में उनकी बस्ती थी। प्रत्येक देवदासी को उसी प्रतिष्ठा और कला साधना के अनुपात में देवार्पित भूमि की आमदनी का हिस्सा मिलता था।

राज्य तथा धर्म द्वारा स्वीकृत देवदासी संस्था का विजयनगर के हिन्दु राज्य में अत्यधिक विकास हुआ। डोमिन्गोज पाएस के अनुसार देवदासियों के बहुमूल्य आभूषणों का वर्णन करना मुश्किल है। हीरे, मोती, पन्ने और नीलम से जुड़े हुए सोने के गुलबंद, बाजूबंद, कटिमेखलाएँ और कंगन उनके शरीर पर जगमगाते रहते हैं। पवों में रत्नजड़ित नूपूरों के बिना तो उनका काम ही नहीं चलता। आश्चर्य होता है कि गणिकावृत्ति करने वाली इन स्त्रियों के पास इतना कल्पनातीत धन कहाँ से आता होगा। अनेक देवदासियाँ को बड़ी-बड़ी जागीरे मिलती हैं। पालकी के बिना वे बाहर नहीं निकलती और सैकड़ों दासियाँ उनकी सेवा में तैनात रहती हैं। उन्हें भेट मिलने वाली बहुमूल्य वस्तुओं की तो गिनती करना भी मुश्किल है। मंदिर आर्थिक संस्था के रूप में विकसित हो गए थे। हिन्दु मंदिरों की वृहद रूप से वृद्धि उनके महत्व के परिणामस्वरूप लोगों में मंदिरों को दान देने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। यह दान भूमि या किसी अन्य वस्तु की होती थी, जिसके बिना मंदिरों की जीविका असम्भव थी। राजाओं, सामंतों द्वारा भी मंदिरों हेतु स्वतंत्र धर्मस्व-निधि की स्थापना की जाती थी। वृहद् भू-दान ने मंदिरों को सामंती आयाम प्रदान किया। अभिलेखों से ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह जानकारी मिलती है ये मंदिर लोगो को पट्टे पर भूमि देते थे। भूमि दान एवम् ग्राम दान ने मंदिरों और मठों को भू-स्वामी बना दिया था, जिससे कि इन्हें सामंतों की तरह ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक एवम् राजनीतिक नियंत्रण प्राप्त हो गया था।

कुछ मठों के पास इतनी अधिक निधि हो गयी थी कि मंदिर के नियमित कार्य हेतु श्रमिक एवं दास रखने पड़ते थे जो मंदिर की भूमियों को जोता करते थे। बड़ी संख्या में भूमि, नगद, पशु, एवम् अन्न वंश दर वंश धार्मिक लोगों द्वारा मंदिरों को अर्पण करने से मंदिरों का स्वरूप बड़े भू-मालिकों अथवा बैंकों समान हो गया था। ये मंदिर सूद पर निश्चित दर लगाकर लोगों को नगद उधार देते थे कहीं-कहीं ये सूद दर 15 प्रतिशत वार्षिक होता था तो कहीं 12 प्रतिशत होता था।

देवताओं को रत्नों का उपहार दिया जाता था जो एक तरह से मंदिर के लिए आय का स्रोत था।

मंदिरों को फल-फूलों के बाग भी उपहार के रूप में दिए जाते थे। 992 ई० के करीमनगर अभिलेख से यह सूचना मिलती है कि आह्वमल्लदेव के साथ सैन्य अधिकारी ने फूलों का बगीचा तथा भीगी भूमि का उपहार मल्लिकार्जुन मंदिर को दिया था। देववृत्ति भूमि तथा ग्राम को सभी प्रकार की प्रतिरक्षा तथा उन्मुक्ति प्राप्त थी, इन्हें 'सर्वमन्या' भूमि कहते थे।

भूमि पर पैदा होने वाली कई सामग्री श्रद्धापूर्वक सर्वप्रथम मंदिरों को दी जाती थी। जैसे अन्न, फल आदि। किसानों एवम् भक्तों द्वारा बड़ी संख्या में अन्न एवम् पशुओं के दान के कारण मंदिरों के आय के स्रोत बढ़ गए थे। महलों के पश्चात् अन्न की खपत सर्वाधिक मंदिरों में होती थी।

मंदिर ऋण देकर ब्याज लगाते थे। इससे प्राप्त होने वाली आय का प्रयोग शाश्वत दीपक को जलाने तथा अन्य इच्छित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किया जाता था। इस प्रकार मंदिर एक प्रकार से बैंक का रूप प्राप्त कर लिया थे।

साधारणतया मंदिरों पर नियंत्रण जिस समूह द्वारा रखा जाता था उसे 'स्थाना' कहा जाता था तथा इस समूह के प्रमुख को "स्थानाधिपति" कहते थे "स्थानाधिपति" की नियुक्ति मंदिर के प्रशासन की देखभाल हेतु की जाती थी। सम्प्रति में भी देवस्थान शब्द का प्रयोग मंदिरों के प्रशासनिक कार्यालय हेतु किया जाता है। द्वितीय वर्ग में मंदिर के जो कर्मचारी आते थे उनमें पुजारी, खजाँची, लेखाकार, गोदाम की देखभाल करने वाले आते थे जिनको मनून या मन्यूलू कहते थे जिसका अर्थ है सम्माननीय व्यक्ति। कर्मचारियों के तीसरे वर्ग में सैनिस आती थी। सैनिस शब्द संस्कृत के स्वामिनी शब्द से उद्भूत है। जिसका तात्पर्य देवदासी से है। इन स्वामिनियों को भक्तगणों द्वारा मंदिरों को दान किया जाता था। ये रंग-भोग के समय देवता के समक्ष नृत्य करती थी। ये सैनिस साधारण गणिका नहीं होती थी। सबसे अंतिम वर्ग से निबंधकारों की गणना की जाती थी जिसमें खाना बनाने वाले, पानी भरने वाले, सफाई करने वाले, पहरा देने वाले, थवई आदि शामिल हैं। इस प्रकार शाही महल के पश्चात सर्वाधिक संख्या में कर्मचारी मंदिरों में नियुक्त थे। इन कर्मचारियों को

भूमि तथा निश्चित वेतन दान मिलता था। इस प्रकार मंदिरों के आर्थिक स्रोत बढ़ते जोन से कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ती गयी।

मंदिर वाणिज्य के केन्द्र थे साधारणतया मंदिर के चारों ओर कई दुकाने होती थी जिनमें तीर्थयात्रियों के लिए तथा देवता की पूजा हेतु आवश्यक सामग्री मिलती थी। मेले तथा त्यौहार के अवसर पर मंदिर सैकड़ों तीर्थयात्रियों को आकर्षित करते थे इस कारण से वाणिज्यिक समुदाय का लाभ होता था। मंदिरों के पास इतनी अधिक भूमि होती थी कि वे स्वयं प्रत्यक्ष रूप से पूरी भूमि पर खेती नहीं करवा पाते थे। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मंदिर काश्तकारों को खेती हेतु भूमि प्रदान करते थे।

मंदिरों में सेवा करने के एवज में देवदासियों को कुछ पारिश्रमिक मिलता था उनके वेतन मंदिर के धन—दौलत तथा प्रसिद्धि पर निर्भर था, जिनकी वे कर्मचारी थीं। यह राजा पर भी निर्भर था जिसने उन्हें संरक्षण दिया था।

कुछ मंदिरों की देवदासियों को उनके पारिश्रमिक के एवज में भूमि दी जाती थी। गंगादित्य के समय के अभिलेख से ऐसे अनुदानों के प्रमाण मिलते हैं। 958 ई० के एक लेख से कन्नरदेव के समय के भूमि के अनुदान का उल्लेख मिलता है जो कोडियूर में एक नृता वितन्की (देवदासी) को दिया गया था। 1188ई० के तमरईपक्कम लेख से एक वेलि भूमि अनुदान का उल्लेख मिलता है जो एक स्त्री संगीतज्ञ के परिवार को दिया गया था। यह स्त्री सती हो गयी थी और उसका परिवार जीवन की आशा से वंचित हो गया था।

कभी-कभी देवदासियों को वेतन की जगह धान, सोना और काश भी मिलता था।

शासक और मंदिर के अधिकारी देवदासियों को ग्राम अनुदान में देते थे 108 ई० के लेख से स्पष्ट है कि मंदिर के अधिकारी एक देवदासी को अरुमपुलीयपदि का एक छोटा सा गाँव अनुदान में देकर प्रसन्न थे। इस प्रकार के अनुदानित गाँव हर तरह के कर (इलावई, उवगल) से मुक्त थे। ग्राम से होने वाले लाभ को भोगने के लिए देवदासियों को जीवन भर की छूट थी।

राजराजा-1 के लेख से एक कर 'कुट्टीकल' का ज्ञान होता है। यह संभवतः नृत्य करने वाली कन्याओं पर लगता था। प्राकृतिक आपदा के समय मंदिर के दासों से निश्चित रूप से कर लिया जाता था।

कई जगह देवदासियों को निर्वाह हेतु भत्ता दिया जाता था। ये भत्ता एक कटोरी पके हुए चावल के रूप में भी होता था। अन्य आयोजनों में उन्हें खिलाने की भी सुविधा रहती थी। इस व्यवस्था में खाने की मात्रा उनकी आवश्यकता के अनुरूप नहीं होती थी। 1216ई० के उत्तरमयर अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक कुरुनी अर्थात् चावल देवदासी और उनके वंशज को दिया जाता था। देवीदासी और उनके नृत्य-शिक्षक को जो अनुदान और पाश्रिमिकी दिए जाते थे उसे कानी, जीविता और भोग कहा जाता था।

तमिलक-कुट्टु नामक नृत्य की नृत्यांगना को जो कानी दिया जाता था उसे कुट्टावुककानी कहते थे। आर्याक्कुट्टु नामक नृत्य की नृत्यांगना को

नृत्याभोगा नामक कानी दी जाती थी। नृत्याभोगा को चक्काइक कानी भी कहते थे। आन्ध्र-प्रदेश की देवदासियों को जीवन पर्यन्त दी जाने वाली कानी को जीवितम् या जीविता या सानीमान्या कहते थे। नृत्य-शिक्षक अर्थात् नट्टुवन को जो परिश्रमिकी दी जाती थी उसे नाट्टूवक्ककानी या नट्टूवनिलई कहते हैं। कई लेखों के अनुसार नृत्य-शिक्षकों को ऊँचा पाश्रमिक दिया जाता था। गायक और गायिकाओं को प्रशिक्षण देने वालों को भी पारिश्रमिक दिया जाता था। मंदिर की सफाई हेतु दिये जाने वाले पारिश्रमिक को तिरूवल्लकुपुरम कहते थे। भूमि पर लगे धब्बों को साफ करने के लिए मेलूक्कूट दवल या मूलूक्कुपुरम् कहते थे। अधिकतम भूमि अनुदान, शाही आदेश के अनुसार होते थे या फिर मंदिर के अधिकारियों अथवा ग्राम समूह द्वारा या ग्राम के किसी व्यक्ति द्वारा दिया जाता था।

विकास के प्रथम चरण में खासकर ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में देवदासियों द्वारा जो विभिन्न कार्य किए जाते थे वे वंशानुगत होते गए। उत्तरी असकोट जिले के शक्कारामल्लुर के तिरूकन्डीस्वरा मंदिर से यह जानकारी मिलती है कि मंदिर के स्थानान्तर ने एक देवदासी जिसका नाम पेरियानचीजी उर्फ पेरियानाथेनानगयी और उसके वंशजों को तिरामदर्ईविलागम् में पहला आवास खरीदने के अधिकार का दान-पत्र दिया। इसके अलावा मंदिर के त्यौहार के अवसर पर पेरियान चीची को सबसे आगे रहने का अधिकार दिया गया था। यह विशेषाधिकार उसे उसके द्वारा 500 कासू का उपहार मंदिर को प्रदान

करने के कारण दिया गया। एक अन्य अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि श्रीरंगूर की ग्राम सभा द्वारा शोभा-यात्रा के समय ईश्वर के समक्ष नृत्य करने के कारण एक नृत्यांगना एवं उसकी वंशज को भूमि दान दिया गया। यह उल्लेख राष्ट्रकूट शासक कन्नरदेव के शासन के 18वें साल का है, जो दक्षिणी आरकोट जिले के सिद्धलिगमदम् के व्याघ्रपुरिस्वरा मंदिर से उल्लिखित की गयी थी।

थंजावुर अभिलेख इस विषय में और अधिक जानकारी देता है। इसके अनुसार राजाराजेश्वर मंदिर की चार सौ देवदासियों में सभी को सौ के सौ कलम एवं एक गृह प्रदान किया गया था। उनकी नियुक्ति के विषय में एक शिलालेख में जानकारी मिलती है कि अगर मंदिर के शेयर धारक की मृत्यु हो जाती थी अथवा वह उस स्थान से चला जाता था तो उसके नजदीक के सम्बन्धी को यह भत्ता दिया जाता था और उस भत्ता धारक को वहीं कार्य करने पड़ते थे जो शेयर धारक किया करता था। अगर करीबी रिश्तेदार इस कार्य के योग्य नहीं ठहरते थे तो किसी और योग्य व्यक्ति का चुनाव किया जाता था जो इन कार्यों को उचित निष्पादन कर सके और भत्ता ले सके। यह निर्देश राजा राजराजा प्रथम द्वारा जारी किया गया था। आन्ध्र प्रदेश में जो देवदासियाँ-वंशानुगत आधार पर मंदिर की सेवा करती थी उन्हें सम्प्रदाय सनूलू कहते थे। ये देवदासियाँ मंदिर की स्थायी कर्मचारी होती थी।

देवदासियों की आय का मुख्य स्रोत भूमि थी। प्रायः मंदिर को ग्राम या भूमि के रूप में स्थायी निधि प्रदान की जाती थी, जिससे कि मंदिर पर होने वाले सेवा पर खर्च किया जा सके। इसके अन्तर्गत गायन एवं नृत्य भी था। किन्तु इन अनुदानों में गायन एवम् नृत्य पर होने वाले व्यय स्पष्ट नहीं हैं। कभी-कभी दान देते समय दान-दाता स्वयं मंदिर में कार्य करने वाले अलग-अलग वर्गों के लिए अंश निर्धारित कर देते थे।

पत्थर पर मिले लेख जो कि तिरुचिरापल्ली जिले को नर्तमलाई के तिरुमलाईक्कादम्बर मंदिर के निकट के तालाब में मिला है, में उल्लेख है कि मठों और मंदिर से जुड़े अधिकारी तिरुम्पदा से एकत्रित हुए और मंदिर के दस (माप की इकाई) भूमि को दस देवरादियारों में वितरित किए ताकि वे मंदिर में दो बार प्रार्थना-आराधना कर सकें।¹⁵⁶ भूमि का दूसरा उपहार एक नृत्यांगना को दिया गया जिसका नाम सलूवा-तिम्मरसा मनिक्कम् था।¹⁵⁷ यह अभिलेख हमें अलागिया नरसिंहा पुरुमल मंदिर जो कि दक्षिणी असकोट जिले के बिल्लुपुरम तालुक के एनाथिराम मे है, से मिला है। पाण्ड्य राजा कुलशेखर देव के शासन काल के बीसवें वर्ष का एक अभिलेख तिरुनेलवेलि के निलियप्पार मंदिर से मिला है। इसमें भी एक नृत्यांगना को भूमि जिसका नाम भगवती इरुतिरुवूदईयाल था जो तिरुनेलवेलि उडैय्यार के एक मंदिर में अपनी सेवा प्रदान करती थी को दिया गया था।¹⁵⁸ वीर पाण्डेय के शासन

काल के पाँचवे वर्ष में हम सुनते हैं कि नर्तकियों एवम् नट्टुवन (नृत्य शिक्षक) को मंदिर की सेवा करने के बदले भूमि प्रदान की गयी थी।

गुन्दुर जिले के तेनाली तालुक के चिलमुरु में एक मुप्पा नागादेव ने भूमि का दान रामेश्वर मंदिर की नृत्यांगनाओं एवम् पुरोहितों (सैनिस और मनीस) को वेतन के रूप में दिया।¹⁵⁹ गुन्दूर जिले के मोप्परु के कोडेश्वर मंदिर के सामने स्थित एक खम्भे पर लेख अंकित है, इसकी 1170ई0 है। इसमें नृत्यांगनाओं, उनकी माताओं एवम् वेतन के रूप में दी जाने वाली भू-दान के वर्णन की सूची है।¹⁶⁰ इसके दानकर्ता पदावल गोन्का और उसकी पत्नी गोकम्बिक थे। सभी आठों नृत्यांगनाओं को एक खा तथा दस मा भूमि दी गयी थी। 1173ई0 में राजेन्द्र चोल ने वेलानती कुलोतुंगा कोडा गोन्का ने सिरिपुरम् के रामेश्वर मंदिर की तेरह नृत्यांगनाओं को भू-दान का उपहार दिया गया था। प्रत्येक तेरह लड़कियों के हिस्से तीन वेलि भूमि आई थी।¹⁶¹ गुन्दुर के कोलाकुरु के आगस्येश्वरा मंदिर की नृत्यांगनाओं को दो पुट्टीस भूमि वेतन के रूप में दिया गया था। इसके दानकर्ता एक अमर नायक थे।

नेल्लोर जिले के चिरुमना मल्लिकार्जुन मंदिर की नृत्यांगनाओं को मंदिर में पूजा एवं नृत्य करने के बदले में काम नायक एवं देवी नायक द्वारा भीगी एवम् सूखी भूमि, दोनों तरह की भूमि प्रदान की गयी थी। इस लेख में यह भी बताया गया है कि यह भूमि इस शर्त के साथ अनुबद्ध थी कि यदि नृत्यांगनाएं चाहें तो इस भूमि को पट्टे पर दे सकती थीं। कापू नामक अधिकारी जो ग्राम

के नियम को बनाए रखता था, वह पट्टे की भूमि को सर्वमान्य भूमि की तरह मान्यता प्रदान करता था।¹⁶²

होयसल भुजबल वीर सिंह देवरास के शासनकाल में मिले पुरालेख जिसकी तिथि 1261 ई० है, में सत्तियाकेरे भगवान योगानाथ की नृत्यांगना को नगद अनुदान में दिए जाने वाले उल्लेख हैं।¹⁶³

त्रावणकोर राजवंश के काल का एक तमिल लेख, जिसकी तिथि 343 कोल्लम वर्ष है, इसकी तुलना 1168 ई० से की जा सकती है, वह किलीमनूर के तिरुप्परक्कदल-भट्टारक मंदिर से संबंधित है। इसमें उल्लेख है कि प्रतिदिन 31 नालीज और एक उरी चावल पकाया जाता था जो कि मंदिर के सेवकों जिसमें देवदासियाँ भी सम्मिलित थीं में बँटवाया जाता था। इसके अनुसार जो देवदासी धान पीसती (कूटती) थी और हाथों पर चिराग रखती थी, उन्हें दो नालीज धान दिया जाता था। शुचिन्द्रम में परपण्डा-पेरुमल नामक देवदासी और उसके वंशकुल को 12 नालीज चावल दिया जाता था।¹⁶⁴ थंजावुर जिले के तन्निरकुमारम् के एक व्यक्ति सिवान तिललईनायकम् ने तिरुक्कलार के महादेवी मंदिर को धान का उपहार दिया था जो कि नए चन्द्र दिवस पर भगवान के चढ़ावे एवम् देवदासियों को खिलाने के काम आता था।¹⁶⁵

कुलोतुंग के शासन के 40वें साल का एक पुरालेख दामोदरन नामक व्यवसायी से संबंधित है जिसने शिवपादशेखरपुरम् मठ से जुड़ी देवदासियों,

शिक्योगियो एवम् तपस्विनों के भोजन के लिए धर्मस्व निधि प्रदान किया था।¹⁶⁶ यह जानकारी हमें तिरुचिरापल्ली जिले के रत्नागिरी में स्थित हरलकेश्वरी मंदिर से मिलती है। थजावुर जिले के तिरुविडायवयाल में स्थित पुण्यामठास्वामिनी मंदिर से एक लेख मिला है जिसके अनुसार एक कोरियम्माई द्वारा सित्तिराई नामक त्यौहार के समय देवदासियों के भोजन हेतु 28 कलम धान उपहार के रूप में दिया गया था।¹⁶⁷

नगद एवम वस्तुओं के अनुदान के साथ देवदासियों को कर मुक्त आवासी सुविधाएं भी दी जाती थी। हमारे पास ऐसे लेख हैं जिनसे देवदासियों के लिए मंदिर के आस-पास घर बनाए जाने एवम् उनके रख-रखाव का प्रबन्ध करने का उल्लेख है। थंजावुर लेख से हमें यह जानकारी मिलती है कि राजराजेश्वर मंदिर की सभी चार सौ देवदासियों में प्रत्येक को मंदिर के पास की गली में मकान आबंटित किया गया था। प्रत्येक देवदासी का नाम उसे आवंटित किए गए मकान की संख्या और वह गली जिसमें वह मकान स्थित था, राजराजेश्वर मंदिर की दीवार पर सावधानीपूर्वक अंकित था।¹⁶⁸ काकतीय शासक गणपति के जनरल जय ने चेबरोलू में भगवान कोडेश्वर का एक मंदिर बनवाया था और उस मंदिर के सामने उसने 16 देवदासियों के लिए एक दोमंजिला मकान बनवाया था जो कोडेश्वर मंदिर में ही नियुक्त थी।¹⁶⁹

देवदासियों के लिए आवासों का प्रबन्ध तो किया ही जाता था, इसके अलावा इन्हें घर बनाने के लिए भूमि भी प्रदान की जाती थी। मदुरै जिले के

तिरुप्परनकुरम् में स्थित सुब्रहान्या मंदिर में मिले लेख के अनुसार एक देवरादियाल की पुत्री को भूमि के साथ ही आवास हेतु भूमि भी प्रदान की गयी थी।¹⁷⁰ रामानाथपुरम् जिले के शिवापुरी में स्थित स्वयं प्रकाशेश्वरा मंदिर की देवदासी को भूमि के अलावा आवासीय भूमि प्रदान की गयी थी।¹⁷¹

आन्ध्र-प्रदेश एवम् तमिलनाडु के कुछ अभिलेख देवदासियों के संघीय कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालते हैं। देवदासियों ने अपनी संस्था बना ली थी जिसका जनता पर असर था एवम् लोगों में उसकी विश्वसनीयता भी थी। वे मंदिर के कार्यों का प्रबन्ध किया करती थी। रूचिकर तथ्य यह है कि आन्ध्र प्रदेश में कई देवदासियाँ बसी हुई थी। इस उपनिवेश में 300 से लेकर 500 देवदासियाँ थीं। किसी भी फैसले पर निर्णय लेने के लिए वे शहर के किसी महत्वपूर्ण मंदिर जैसे द्रक्कशर्मा, भीमवरम् पलकोल, श्रीकाकुलम चेबरोलू और तेलपुर जैसे जगहों में इकट्ठा होती थी।¹⁷² शहरों में मंदिरों के पुरोहितों की भी सभा हुआ करती थी। इस तरह के समूह में पुरोहितों को मनीस और देवदासियों को सैनिस के रूप में जाना जाता था। कई लेखों में देवदासियों के इन संघों द्वारा मंदिर की धर्मस्व निधियों को प्रशासित करते हुए पाया गया। उन्हें इस धर्मस्व निधि के उचित रखरखाव करने का उत्तरदायित्व भी सौंपा जाता था पाण्ड्य रानी ने रामनाद जिले के तिरुपत्तूर में स्थित तिरुत्तलिश्वरा मंदिर को शिवरात्रि की पूजा के लिए 30 सोलियानकाशु का उपहार दिया। यह धर्मस्व निधि एक देवरादियाल जिसका नाम कुलशेखर मनिक्कम् था, को सौंप

दिया था।¹⁷³ कृष्णा जिले के घंटशाला में एक गणिका जिसका नाम कोटा कोमिसेट्टी था, ने तीन सौ देवदासियों को 10 रेजाराजा मदाज सौंपा जिससे कि जलाधिश्वर मंदिर के शाश्वत दीपक को प्रज्ज्वलित रखा जाए।¹⁷⁴ 1154 ई0 में वेलानाडु के गोन्का के अधीनस्थ ने पुनुरुगुडुरु के विन्ध्यवासिनी मंदिर के शाश्वत दीपक को जलाए रखने के लिए 56 भेड़ों का उपहार दिया था। इस दान का रख रखाव 300 सैनिस अर्थात् देवदासियों द्वारा किया जाता था।¹⁷⁵

देवदासियाँ मंदिर प्रबन्धन की एक आवश्यक भाग होती जा रही थीं। इसकी पुष्टि कई अभिलेखों से होती है। जिनमें वे स्थानापति के साथ मिलकर मंदिर का प्रबन्धन देखा करती थी। स्थानापति, 300 देवदासियाँ (सैनिस) एवम् निबन्धकर्ता मिलकर यह देखा करते थे कि उपहार का सही ढंग से उपयोग हो रहा है कि नहीं।¹⁷⁶ चेबरोलू में महामंडलेश्वर नम्बाया ने भगवान कुमारास्वामिन के मंदिर के शाश्वत दीपक जलाने हेतु 50 भेड़ें मंदिर को दान दिया था। 1075 ई0 में मंदिर के देवरादियार और नियास्तार के बीच एक समझौता हुआ कि वे नयनार तरुरवलार—उलालवार के सम्मान में जो त्यौहार मनाते थे उसे जारी रखेंगे तथा उनकी मूर्ति को अन्य नयनारों के साथ तिरुविदईवकली के पिल्लार्डियर मंदिर को भेज दिया गया था। वे इस बात पर भी सहमत थे कि मंदिर के मुख्य द्वार उत्तरी द्वारा एवम् रथ खड़ी करने वाली जगह का पुननिर्माण कराएँगे जो कि एक तूफान में गिर गए थे।¹⁷⁷

दास व्यापार

प्राचीन भारतीय दास व्यापार पर थोड़ा बहुत लिखा-पढ़ा जा चुका है तथपि बहुत-कुछ लिखा जाना अभी भी अपेक्षित है।

यद्यपि साहित्यिक स्रोतों में दास प्रथा की प्राचीनता ऋग्वेद तक जाती है।¹⁷⁸ लेकिन दासों के व्यापार से संदर्भित प्राथमिक साक्ष्य जातकों¹⁷⁹ में ही प्राप्त होता है। ई० पू० चौथी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ई० के बीच दासों के व्यापार में अत्यधिक तेजी आयी जिसका साक्ष्य देशी और विदेशी दोनों ही स्रोतों में मिलता है। स्ट्रैबो¹⁸⁰ (IIInd C.N B.C) उल्लेख किया है कि राजा को भी औरतों को उनके माता-पिता द्वारा बेचे जाने का इंतजार करना पड़ता था। वह यह भी कहता है कि 150ई० पू० तक पूर्वी देशों में दास व्यापार एक लाभदायक व्यवसाय हो गया था। पेरिप्लस¹⁸¹ (प्रथम शता० ई०) और एटेलियन¹⁸² (प्रथम शता० ई०) से भी भारत का मिस्र और यूनान के साथ सक्रिय समुद्री व्यापार की पुष्टि होती है। यद्यपि इनमें पेरिप्लस एटेलियन स्त्री में दासों के व्यापार का स्पष्ट आख्यान मिलता है। उसके अनुसार-शाही हरम के लिए सुन्दर लड़कियों को बेरिगाजा (भड़ौज, गुजरात) लाया जाता था। वह भारत से महिला दासों को सुभात्रा¹⁸³ निर्यात किये जाने का भी उल्लेख करता है। इस प्रकार प्रथम शता० ई० में अन्य वस्तुओं के साथ मानवीय वस्तुए का व्यापार की एक महत्वपूर्ण विशेषता/वस्तु थी।¹⁸⁴

छठीं शताब्दी ई० के जस्टिशियन लॉ संहिता में भारतीय हिजड़ों को भी एक व्यापारिक वस्तु के रूप में उल्लिखित किया गया है जिनका कार्य सिकन्दरिया में सेवा करना था।¹⁸⁵ कुछ काले पुरुष दासों को 5वीं व छठीं शताब्दी ई० में बोर्नियों और अन्य द०-पूर्वी एशियाई द्विपों से आयातित किया गया था।¹⁸⁶ रोमन सम्राज्य से वैमनस्य ने दास व्यापार के साथ ही भारतीय व्यापार को भी सीमित कर दिया जो प्रथम शताब्दी ई० की अपेक्षा गुप्त काल में अत्यधिक कम हो गया था।¹⁸⁷ जब प्लिनी (ग्रन्थ – नेचुरल हिस्ट्री) में भारतीय विलासिता की वस्तुओं पर अत्यधिक मात्रा में रोमन मुद्रा के अन्तर्प्रवाह पर आँसू बहाता है।¹⁸⁸ ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी देशों के साथ दास व्यापार में पतन तृतीय शता० ई० से आठवीं शताब्दी ई० के बीच हुआ जो अरबों और तुर्कों के सपर्क होने पर ही पुनः सक्रिय हुआ।

कुछ अभिलेखों में भी दास व्यापार की जानकारी मिलती है। साहित्यिक स्रोतों से समय इच्छ कहा (8वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध), कुवलयामाला (779ई०), गाणितसार संग्रहण (850ई०), उपमितिभव प्रपंच कथा (905ई०) कथाकोश (10वीं शता० ई०), कथासरित्सागर (11वीं शताब्दी) उत्तराध्ययन टोका (11वीं शता०), राजतरंगिणी (12 वीं शता०), लीलावती (1150ई०), लेखपद्धति (1288 ई०) और प्रबंध चिन्तामणी (13 वीं शता०) आदि उल्लेखनीय हैं। इसी तरह मुस्लिम और अरब वृत्तांतों में फ़तुह-उल-बुल्दान (892-93 ई०), तारिख-उस सुबुक्तगीन (1011-1059ई०) तारिख-उल -यामिनी (1020-50ई०), जमी-उल-हिकायत

(1211ई0), तारिख-ए-फिरोजशाही (13वीं शता0) आदि में भी प्रस्तुत समस्या पर प्रकाश पड़ता है। पूर्वमध्यकाल के कुछ अभिलेखों में भी दास व्यापार संदर्भित दृष्टांत प्राप्त होते हैं।

अरबी और तुर्की संपर्क ने दास व्यापार के साथ-साथ ही सामान्य व्यापार में भी अत्यधिक विस्तार लाया।

भारतीय समाज में सामंतवादी जटिलताओं¹⁸⁹ ने दासों के व्यापार और गैर कानूनी हस्तांतरण और पर्याप्त सक्रियता ला दिया। इस अवधि में बार-बार हुए युद्धों और हमलों में बनाये गये बंदी दासों के महत्वपूर्ण स्रोत बने।¹⁹⁰ इसने दासों की संख्या में विचारणीय वृद्धि ला दिया जो न केवल भारत बल्कि मुस्लिम और क्रिश्चियन यूरोप को भी प्रभावित किया।¹⁹¹ इस संदर्भ में अल उतबी का कथन दृष्टव्य है कि निडर भीम पर महमूद गजनवी की विजय ने दासों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि ला दिया जिससे उसी क्षेत्र में इनकी कीमत अत्यधिक सस्ती हो गई।

इसी तरह लेखपद्धति¹⁹² से पता चलता है कि दूसरे राज्यों से युद्ध में अधिकृत की गई लडकियों का स्थानीय सामंत और योद्धाओं द्वारा दास बनाकर बेचा जाता था। कल्हण के अनुसार कश्मीरी शासक वज्रादिव्य ने बहुत से दासों को म्लेच्छों के हाथ बेच दिया था¹⁹³ जो प्रायः सिन्ध के अरबी दास थे।

कभी-कभी लुटेरे लोग भी अपने बंदियों को दासों के रूप में बेच देते थे। वन प्रदेशी जनजातियों जैसे शबर, पुलिन्द आदि इनमें बहुत सक्रिय थी।¹⁹⁴

उपमितिभव प्रपंच कथा से पता चलता है कि लुटेरे एक आदमी को इसलिए अच्छे से खिला-पिला रहे थे ताकि उसे आकर्षक दास पर बेच सकें।¹⁹⁵ कथाकोष से पता चलता है कि कैसे मित्रानंद लुटेरों के हाथ पड़ता है जिसे उन्होंने किसी व्यापारी के हाथ बेच दिया जिसे वह पर्सिया ले गया।¹⁹⁶ कथा सरित्सागर में भी ऐसी ही कहानी मिलती है।¹⁹⁷ इन कथानकों से पता चलता है कि नियमित रूप से दासों का नियति फारस में होता था।

सत्ताधारी अभिजात्य वर्गीय ऐश्वर्यशाली जीवन पद्धति का आभास कला और साहित्य¹⁹⁸ से भी होता है। 11वीं व 12वीं शताब्दी के मंदिर भवन जो मुख्यतः राजाओं और प्रमुख सामंतों के अधिकार में थे, उत्तेजक चित्रों से भरे पड़े हैं।¹⁹⁹ इन चित्रों से उनके स्वाद और नजरिए का पता चलता है।²⁰⁰ इस समय के धर्मनिरपेक्ष साहित्य से भी दरबारी संस्कृति की शान-शौकत का पता चलता है।²⁰¹ इन सबका परिणाम दासों के व्यापार और गैर-कानूनी क्रिया-कलापों की अधिकता के रूप में आया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन यूरोप में भी रजाकुमारों, उच्चाधिकारियों, सामंती सरदारों, उच्च संस्थाओं आदि स्थानों में, दासों को बड़ी संख्या में नियोजित किया गया था।²⁰²

व्यापारिक वस्तु के रूप में दासों को उनके लिंग और कार्य के अनुसार मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है। जैविक दृष्टि से वे या तो पुरुष या महिला अथवा तीसरी कोटि के रूप में हिजडों से संबंधित थे।²⁰³ हम पहली कोटि के दासों के व्यापार के संदर्भ में अनेक विदेशी आख्यान दृष्टांत पाते हैं।

कुवलपमाला²⁰⁴ कथाकोष²⁰⁵ कथासरित्सागर²⁰⁶ और कुछ मुस्लिम कथानकों²⁰⁷ में पुरुष दासों जबकि गाणित सार संग्रहण²⁰⁸ उपमितिभव प्रपंच कथा²⁰⁹ लीलावती²¹⁰ लेखपद्धति²¹¹ तथा कुछ मुस्लिम आख्यानों में मुस्लिम दासों के व्यापार का उल्लेख पाते हैं। उपमितिभव प्रपंच कथा²¹² से पता चलता है कि हिजड़े लाभदायक दाम पर बेचे जाते थे। शाही हरम के लिए हिजड़ों के आयात किये जाने की पुष्टि मुस्लिम स्रोतों से भी होती है।²¹³

यद्यपि दासों को किसी भी कार्य में लगाया जा सकता था²¹⁴ तथापि उनकी अधिकाँश संख्या या तो उत्पादन कार्यों में अथवा घरेलू कार्यों में लगी होती थी। हमें दासों के बेचने और खरीदने का महत्वपूर्ण दृष्टांत महिला दासियों का मिलता है जिन्हें घरेलू कार्यों में लगाया जाता था। इस प्रकार दासों को प्रायः घरेलू कार्यों के लिए ही खरीदा जाता था तथापि विशेष परिस्थिति में उन्हें आर्थिक उद्देश्यों में भी लगा दिया जाता था जैसे— जुलाई, बुआई, मड़ाई आदि। लेखपद्धति²¹⁵ में हमें क्रीत दासियों के घरेलू कार्यों के साथ ही साथ बुआई, मड़ाई, घास लाना, खेतों में काम करना आदि का साक्ष्य मिलता है।

घरेलू दासों को पुनः दो उपभागों में बांटा जा सकता है प्रथम वे जो घरेलू कार्यों हेतु होते थे दूसरे जो विलासिता के लिए होती थी। लेखपद्धति में खरीदी गई दासियों के निम्न कार्य बताये गये हैं— सब्जी काटना, मसाला पीसना, गोबर से फर्श लीपना, झाड़ू लगाना, पानी लाना, ईंधन लाना, मालिक

के घर के मल-मूत्र आदि को बाहर फेंकना, गाय-भैंस का दूध निकालना, मठठा बनाना, चारे के लिए घास लाना, और अन्य घरेलू कार्य आदि।

बहुत आरम्भ से ही दासियों को रखैलों के रूप में रखा जाता रहा है।²¹⁶ मेधातिथि²¹⁷ ने पोषिता दासियों का उल्लेख रखैल या उप-पत्नियों के रूप में किया है। गणित सार संग्रहण²¹⁸ में उल्लेख मिलता है कि उच्च दाम पर जवान दासियों को विलासिता के लिए खरीदा जाता था। विलासिता के लिए इनको रखा जाना लेखपद्धति²¹⁹ से भी पुष्टि होता है। ऐसी दासियों को अवरूद्धा व भुजिष्या कहा गया है। लेखपद्धति²²⁰ में गोरी आकर्षक देह काया की सोलह वर्षीया दासी का उल्लेख मिलता है। वही आगे एक दासी का काले आखों वाली, लम्बे बालो वाली, नुकीले नाकों आदि के रूप में मिलता है। इस प्रकार निश्चिततः दास लड़कियाँ इन्द्रिय सुख के लिए भी खरीदी जाती थी।²²¹

हमें दास हिजड़ों का आख्यान भी मिलता है जिन्हें मुस्लिम शासकों द्वारा हरम की सेवा के लिए रखा जाता था। उन्हें प्रायः बचपन से ही लाया जाता था। और बधिया कर दिया जाता था।²²²

इस काल में अन्तर देशीय दास व्यापार अनवरत चल रहा था जो साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों साक्ष्यों दोनों से स्पष्ट होता है। द0 भारत के केरल राज्य (जिसे महिला राज्य कहा गया है) में पुरुष दासों को ले लाया जाया जाता था²²³ जहाँ उन्हें स्वर्ण के बदले में विनिमय कर दिया जाता था।²²⁴ यह वर्णन यद्यपि अतिरंजित दृष्टिगत होता है तथापि इतना तो स्पष्ट है कि

दासों को उ० भारत से द० भारत तक आकर्षक मूल्य पर निर्यात किया जाता था।

लेखपद्धति से एक पकड़ी गई लड़की का दृष्टता मिलता है जिसे महाराष्ट्र से पकड़ा गया और उसे गुजरात या राजस्थान में बेचा गया। कभी-कभी दासों को पहाड़ी जन-जातियों में से आयात किया जाता था जिनका विशेष महत्व उनके मजबूत शारीरिक क्षमता और सहशीलता के लिए था।²²⁵

पूर्व मध्यकाल में यद्यपि दास व्यापार में अधिकता दिखाई देती है तथापि इस संदर्भ में किसी नियमित दास बाजार का दृष्टांत नहीं मिलता। यद्यपि लेखपद्धति के एक दृष्टांत में एक दास लड़की को चौराहे पर बेचे जाने का उल्लेख है²²⁶ इस संदर्भ में लल्लन जी गोपाल का मानना है कि चौराहों पर दासों का नियमित विक्रय होता था। द० भारत के अनेक अभिलेखों में 54 दासों को बाजारों में बेचने का आख्यान मिलता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि दासों की उपयोगिता के अनुसार उनके मूल्य होते थे। इनमें सर्वाधिक मूल्य विलासिता के लिए प्रयुक्त दासियों का होता था। इनके मूल्य निर्धारण में उनकी सुन्दरता, उम्र, शारीरिक सौन्दर्य आदि की विशेष भूमिका होती थी। गणित सार संग्रहण द० भारत के संदर्भ में 10 वर्षीय दासी का मूल्य 33.33 स्वर्ण बताता है जबकि सोलह वर्षीय दासी का 20.83 स्वर्ण।

संभवतः इसका कारण यह रहा होगा कि 16 वर्षीय की अपेक्षा 10 वर्षीय दासी अधिक लम्बे समय तक इन्द्रिय सुख दे सकती है। सोलह वर्षीय गोरी, सुन्दर और आकर्षक शारीरिक कद-काया की दासी जो बहुपयोगी हो उसका मूल्य 504 विशालाप्रिय द्रम्म बताया गया है। लेखपद्धति के एक अन्य दृष्टांत में दासी औरत की कीमत 60 द्रम्म मिलता है। इन दोनों उल्लेखों में मूल्य संदर्भित जो भिन्नताएं मिलती हैं उसका कारण यह था कि पहला चाँदी की मुद्रा थी जबकि दूसरा स्वर्ण में था।

एक ही क्षेत्र में मदावीरचार्य (लेखक -गणित सार संग्रहण)²²⁷ के समय में दासों का मूल्य भास्कराचार्य (लेखक -लीलावती, 1150 ई0) के समय की अपेक्षा कम था। उल्लेखनीय है कि 9वीं शता0 में दासों की माँग 12शता0 वी की अपेक्षा निम्न थी। लेकिन उत्तरकाल में दासियों की माँग अत्यधिक बढ़ गई जिसका कारण शासक अभिजात्य वर्ग की विलासिता व भव्यता थी। कर्नाटक क्षेत्र के संदर्भ में लीलावती²²⁸ में 16 वर्षीय दासी की कीमत 32 स्वर्ण निष्क अथवा $32 \times 16 = 512$ रजत द्रम्म बताया गया है। वही गुजरात और राजस्थान के संदर्भ उसी उम्र की दासी की कीमत लेखपद्धति में 504 विशालप्रिय द्रम्म या 60 द्रम्म ($60 \times 8 = 480$ द्रम्म) बताया गया है। इससे पता चलता है कि दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इनके कीमतों में बहुत भिन्नता नहीं दिखती। मुस्लिम

समाज में भी खूबसूरत दासियों की कीमत 20 से 40 टंका जबकि सामान्य दासियों की कीमत 5 से 12 टंका होती थी।²²⁹

अल-उतबी से पता चलता है कि 10वीं शता० के प्रथम चतुर्थास में महमूद गजनवी हजारों संख्या में युद्धबंधियों को गजनी ले गया जहाँ उन्हें 2 से 10 दिरहम में बेंच दिया गया। इससे पता चलता है कि दासों की कीमतों में भिन्नता उनके गुणों और उपयोगिता के आधार पर होती थी।²³⁰

लेखपद्धति²³¹ में कानूनी प्रावधानों के आधार पर दासों के बेचने का उल्लेख मिलता है। इसमें दिन, तिथि, वर्ष के साथ –साथ बेचने वाले एवं खरीदने वालों के बारे में भी सूचनाएं दी गई हैं। एक कथानक में तो गवाह और बाजार के लेखक का भी दृष्टांत मिलता है। बेची गई दासी का मालिक के घर में कार्यों का विस्तार से वर्णन दिया गया है।²³² इसके बदले में मालिक को खाना, कपड़ा आदि देश पड़ता था। अपने कार्यों एवं कर्त्तव्यों की अवहेलना पर दिये जाने वाले दण्ड की घोषणा में जनता के सम्मुख की जानी थी। तद्नुसार यदि वह चोरी करे या दुर्व्यवहार करे या अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन ठीक से न करे या आज्ञा की अवहेलना करे तो मालिक को उसे बांधने या क्रूरतापूर्वक मारने का अधिकार था। इस पर यदि दास आत्महत्या कर ले तब भी मालिक को अपराधी या पापी नहीं माना जाएगा। यद्यपि दासों के साथ उदार व्यवहार के भी अनेक दृष्टांत मिलते हैं।

बाह्य देशों के साथ भी दासों का व्यापार प्रारंभिक काल से ही होता रहा है। जिसका उल्लेख प्लिनी पेरिप्लस आदि से मिलता है। पूर्वमध्यकाल में भी यह व्यापार पश्चिमी देशों, द0 पू0 एशियाई देशों आदि से होता रहा। स्वदेशी व विदेशी वृत्तांतों से पता चलता है कि दासों को अरब, इराक, पर्शिया आदि देशों में निर्यात किया जाता था।

उपमितिभवप्रपंचकथा" से राजस्थान और उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में महिला दासियों और हिजड़ों को समीपवर्ती देशों (प्रायः विदेशों) में आकर्षक दामों पर भेजा जाता था। कथाकोश²³³ और गणितसार संग्रहण²³⁴ की कहानियों से भी पता चलता है कि कभी-कभी भारतीय दासों को पर्शिया और अरब लाया जाता था। लेखपद्धति से भी दासों के समुद्रपार जाने और अन्य वस्तुओं के साथ उनके विनिमय की पुष्टि होती है। मुसलमान इतिहासकार मीर मासूम कहता है कि इरान, इराक व मकरान के सुल्तान खालिफ अब्दुल मलिक (8 वीं शता०), ने कुछ लोगों को हिन्दुस्तान से दासियों और अन्य वस्तुओं को खरीदने के लिए भेजा था।²³⁵

दासों को न केवल विदेशों में निर्यात किया जाता था बल्कि मध्यकालीन तुर्क शासकों के समय तुर्किस्तान खुरासान और चीन से इन्हें आयतित भी किया जाता था। दासियों के आयात से सन्दर्भित अनेक आख्यान जैन कथानकों में प्राप्त होते हैं। इनमें दासियों का नामकरण उनके क्षेत्रों के आधार पर मिलता है। जैसे-बाकुसिरा (बाकुसदेशा से), इशानिका(पूर्व से प्रायः चीन),

धोरुकिनी (थारुकिनी प्रायः अरब), मुरुण्डी और पारसी (पर्शियन) आदि दासियाँ अपने-अपने पोशाकों में भारतीय राजाओं के दरबार में उपस्थित रहती थी। कभी-कभी हिजड़ों को भी मलायाद्वीप²³⁶ से आयात किया जाता था।

जहाँ तक धर्मसूत्रकारों का परिपेक्ष्य है, तो स्पष्ट है कि प्रारम्भिक शास्त्रकारों ने कहा है कि प्रथम दो वर्णों (ब्राह्मण व क्षत्रिय) का मानव व्यापार नहीं हो सकता। यहाँ तक कहा गया है कि यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय दास व्यापार में सन्निहित हैं तो स्वतः ही सात दिनों के अन्दर वे वैश्य हो जाएंगे। हालांकि वास्तविक अर्थों में हम इसमें शिथिलता। विचलन पाये हैं क्योंकि राजाओं के साथ-साथ सामंती सरदार भी पूर्व मध्यकाल में दास व्यापार में सक्रिय रहे थे। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों के अवरोध के बावजूद 10-12 वीं शताब्दी में दासों का व्यापार एवं अवैध कारोबार एक लाभदायक व्यवसाय के रूप में क्रमिक गति से विकसित हुआ। शास्त्रीय नियम-कानूनों का अनुपालन की अपेक्षा उल्लंघन अधिक हुआ।